सोमसी

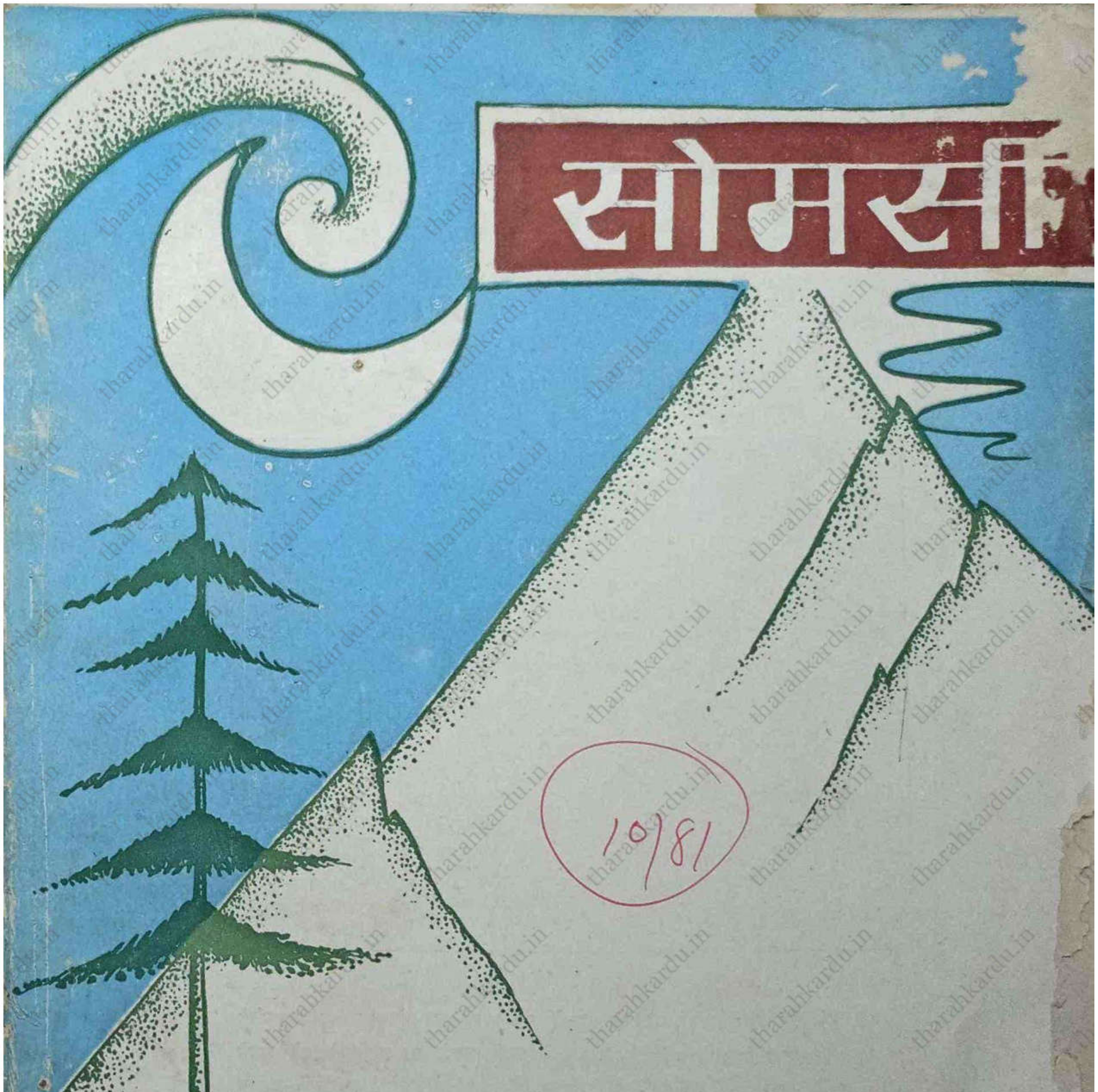

10/81

हिमाचल कला-संस्कृति एवं भाषा अकादमी शिमला-2

केन्द्रीय सूचना एवं प्रसारण मन्त्री श्री बसन्त साठे कुल्लू दशहरे के अवसर पर हिमाचल–कला, संस्कृति एवं भाषा अकादमी द्वारा आयोजित प्रदर्शिनी को देखते हुए। उन्हें अकादमी की गतिविधियों के विषय में अवगत करा रहे हैं अकादमी–सचिव श्री एम० आर० ठाकुर।

सोमसी

हिमाचल कला-संस्कृति-भाषा अकादमी का त्रैमासिक मुख-पत्र

वर्ष 7 अक्तूबर, 1981 अंक 4

मुख्य सम्पादक :
अध्यक्ष अकादमी
शिव कुमार उपमन्यु

सम्पादक :
मौलू राम ठाकुर

सहयोगी :
सरोज सांख्यायन

आवरण :
ओम प्रकाश

२८

जनवरी, अप्रैल, जुलाई तथा अक्तूबर में प्रकाश्य ।

लेखक के विचारों तथा दिए गए तथ्यों से सम्पादक की सहमति आवश्यक नहीं ।

वार्षिक चन्दा–12 रु०   एक प्रति–3 रु०

प्राप्ति स्थान :

हिमाचल कला-संस्कृति-भाषा अकादमी,
पीच ब्लाज्म काटेज, शिमला- *171002*

विषयानुक्रमणिका

क्रम संख्या	लेखक	लेखक	पृष्ठ
1.	सम्पादकीय		(i)
2.	बंइश-बैंभ-बांश-बाशली—हिमाचल में वंश शब्द कथा	–श्रीमती श्याम कुमारी डोगरा	1
3.	हिमाचल की संस्कृति और हमारा दायित्व	–कु० मनोरमा शर्मा	27
4.	अनोखी पुस्तक	–श्री सन्तराम वत्स्य	30
5.	कुल्लू में रघुनाथ जी की स्थापना तथा मन्दिर में मनाए जाने वाले उत्सव	–कु० विद्या शर्मा	32
6.	प्राकृतिक सौन्दर्य से युक्त खीर गंगा	–श्री लीलाधर पराशर	40
7.	पहाड़ी साहित्य समीक्षा : पहाड़ी कवि और उनकी कविता	–श्री तुलसी रमण	43
8.	हिमाचल की आदिम जातियां : किन्नर	–डॉ० बंशीराम शर्मा	63
9.	बीसवीं शताब्दी का प्रारम्भिक साहित्योत्थान और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी	–डॉ० पीयूष गुलेरी	78
10.	पहाड़ी संस्कृति और सभ्यता : तब और अब	–श्री आर० डी० महन्त	87
11.	पहाड़ी संस्कृति तथा कला के स्रोत : पनघट शिलाएं	–श्री रमेश जसरोटिया	90

सम्पादकीय

पहाड़ी भाषा के कुछ आलोचकों का कथन है कि पहाड़ी की अपनी कोई लिपि नहीं है। अतः बिना लिपि के भाषा कैसे हो सकती है। इस सम्बन्ध में पहले यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि भाषा और लिपि दोनों स्वतन्त्र और भिन्न विषय हैं। लिपि भाषा के लिए वाहन का काम करती है। इस वाहन के माध्यम से इसके विकास और प्रसार की गति में तेजी तो आ सकती है परन्तु इसका अभाव भाषा के विकास को अवरुद्ध नहीं कर सकता। भारत का भाषायी इतिहास इस बात का साक्षी है कि कई शताब्दियों तक भारत में लिपि का अभाव रहा है परन्तु उससे भाषा के अस्तित्व को कोई बाधा नहीं पहुंची है। भारत का वैदिक साहित्य अनेकों शताब्दियों तक केवल श्रुत रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी हम तक पहुंचा है। अतः लिपि का होना किसी भाषा के अस्तित्व के लिए जरूरी नहीं है। भाषा बनी रहती है, चाहे इसकी लिपि हो या न हो।

वस्तुतः वाहन के रूप में भाषा के साहित्य-सृजन और साहित्य के विकास के लिए लिपि एक अनिवार्य अंग है, भाषा के अपने अस्तित्व या स्थायित्व के लिए जरूरी नहीं है। इस तरह भाषा के बिना लिपि निरर्थक है, परन्तु लिपि के बिना भाषा निर्मूल नहीं है। यह भी जरूरी नहीं है कि हर भाषा के विकास के लिए अपनी पृथक और स्वतन्त्र लिपि हो। आज भी रोमन लिपि सामान्य फेर बदल के साथ विश्व की अनेक भाषाओं की लिपि है। हाल ही तक पंजाबी भाषा अरबी लिपि में लिखी जाती रही है। भारतवर्ष की मराठी और गुजराती स्वतन्त्र भाषाएं देवनागरी लिपि में लिखी जाती हैं। इसलिए पहाड़ी के लिए अलग स्वतन्त्र लिपि हो, यह जरूरी नहीं है।

परन्तु इस विषय में मूल और वास्तविक स्थिति यह है कि यह कहना अत्यन्त भूल और भ्रम है कि पहाड़ी की अपनी लिपि नहीं है या नहीं थी। इसकी अपनी लिपि है और सुदृढ़ लिपि है। हाल ही तक पहाड़ी टांकरी लिपि में लिखी जाती रही है और आज भी अनेकों महत्वपूर्ण पहाड़ी की पाण्डुलिपियां और हस्तलेख टांकरी लिपि में उपलब्ध हैं तथा पहाड़ी के आलोचकों को सावधान रहना चाहिए कि उनके इस विरोध से पहाड़ी भाषा हिन्दी से कहीं बहुत दूर न निकल जाए। वस्तुतः १९६८-७२ के बीच 'हिमाचल सरकार भाषा सलाहकार समिति' के पास यह विषय कई बार विचाराधीन रहा है और पहाड़ी के कुछ समर्थक इस बात के लिए बजिद थे कि पहाड़ी की यह टांकरी लिपि स्वतन्त्र और प्रचलित रहनी चाहिए और इसे वर्तमान परिस्थितियों के अनुसार विकसित किया जाना चाहिए। ऐसे विकास से पहाड़ी का हिन्दी से बहुत दूर निकलना निश्चित था और इसीलिए राष्ट्रीय भावना और राष्ट्रीय एक भाषा के विकास

के महत्वपूर्ण प्रश्न को देखते हुए भाषा सलाहकार समिति ने अन्ततोगत्व निश्चय किया था कि पहाड़ी के लिए देवनागरी लिपि को अपनाया जाए। इससे टांकरी की उदयीमान लिपि को भारी आघात पहुंचा है निश्चय ही, परन्तु देवनागरी लिपि के अपनाने से समस्याएं सुलझी भी हैं। यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि टांकरी लिपि लंडा या महाजनी लिपि नहीं है, जहां दीर्घ स्वरों का अभाव रहा है। टांकरी में दीर्घ स्वरों का समावेश है। टांकरी के सिरमौरी, कोची, कुलुई, मण्डियाली और चम्बयाली के पांच प्रमुख रूप रहे हैं जो एक दूसरे से अधिक भिन्न नहीं हैं। इनके सामान्य संयोजन से एक परिपूर्ण लिपि का अत्यन्त सुन्दर रूप निखर सकता है।

—एम० आर० ठाकुर

बड़ंश – बैंझ – बांश – बांशली—
हिमाचली में वंश शब्द कथा

–श्याम कुमारी डोगरा

भारतीय भाषाओं में वंश का अर्थ कुल परम्परा भी है और बांस भी। जिस प्रकार कुल में व्यक्तियों का समुदाय और परम्परा होती है उसी प्रकार बांस की भी अपनी परम्परा है और अपना समुदाय है। कुल की एकता की उपमा बांस के समूह से की जाती है। समुदाय में बांस एक दूसरे से सट कर जड़ पकड़े हुए होता है। यदि एक शाखा भी हिलेगी तो सारा समुदाय हिल उठेगा। कुल नष्ट हो जाएगा पर अकेला दुकेला कोई भी संघ शक्ति से नष्ट नहीं होगा।

भारत में अनेक स्थानों में बांस के वन है जो पर्वत की उपत्यका में प्रायः समुद्र तट से १०५० मीटर की ऊंचाई तक पाए जाते हैं। असम, नागाभूमि के वन तो बांस की विविधता में अपना कीर्तिमान स्थापित किए हुए हैं। हिमाचल प्रदेश की उपत्यकाएं बांस की प्रचुरता से अपना ही साज सिंगार लिए हुए हैं। प्रदेश में बांस के कहीं-कहीं घने वन हैं जैसे कांगड़ा में आशापुरी मन्दिर के मार्ग में नाग वन तथा शिवालिक की हाथी धार तथा प्रदेश की अन्य धाराओं में अनेक बांस के वन लहलहाते दृष्टिगोचर होते हैं।

बांस को संसार में मिलने वाली सब घास की प्रकारों में लम्बी घास कहा गया है। अन्य घासों की तरह इसका तना भी खोखला होता है। इसके एक ही अंकुर से कई तने पैदा हो जाते हैं। ये ऊंचाई में १० मीटर से लेकर ३५ मीटर तक जाते हैं।

बांस को एक बड़ा उपयोगी पौधा माना गया है। बर्मी और चीनी लोग इसके नरम कल्ला से कितने ही मधुर खाद्य पदार्थ बनाते हैं। भारत में भी अनेक प्रकार के अचार, मुरब्बे और साग बनाये जाते हैं। बांस के भीतर के गूदे से बढ़िया प्रकार का कागज तैयार किया जाता है। वनस्पति शास्त्रियों के कथनानुसार बांस के ५०० प्रकारों का वर्णन मिलता है। इनकी आयु दस से सौ वर्ष तक मानी जाती है।

हिमाचल प्रदेश की शस्य श्यामला धाराओं में बसे गांवों में कोई विरला ही घर होगा जिसके परिवेश लाहड़ू-सुआड़ू के पास बांस का समुदाय न होगा। घर आंगन का कोई कोना न होगा जहां बांस किसी न किसी रूप में न दिखाई दे। चाहे घर का गोहर पार करते समय

बांस की अर्ली या जंगला लगा हो चाहे पशुओं को रोकने के लिए लंघाना लगा हो जिस में बांस की दो पौड़ियां जैसी बनी हो। घर के भीतर कपड़े, बिस्तर लटकाने के लिए झारना या झरोखा ही क्यों न हो। यहां तक कि गृह निर्माण की कला अब पूर्णतः बदल रही है जिसमें लोहे और सीमेण्ट का प्रयोग बढ़ गया है पर इन सब को सहारा भी बांस के प्रयोग से ही मिलेगा।

एक समाचार के अनुसार मध्य प्रदेश में पन्ना नगर से दो किलोमीटर की दूरी पर स्थित नारायण धी बाग में एक नदिया के किनारे पीपल वृक्ष के ऊपर एक बांस का घर बना है जिस में बांस के दरवाजे हैं और बांस की छत है, बांस की दीवार है और बांस का आंगन भीतर है। अभी भी वहां ८२ वर्ष का व्यापारी जूदा अपनी शैली में रहता है। (देखिए दैनिक हिन्दुस्तान टाइम्ज़ दिल्ली, फरवरी १७, १९८१, पृष्ठ ४, अनुभाग २।)

हिमाचल प्रदेश के जन-जीवन में भी बांस का सम्बन्ध जन्म से मरण तक या कहिए मरणोपरान्त भी रहता है। कोई भी संस्कार, नजात्तरण, मोख उद्यापन करना हो तो बांस की चीरें मण्डप में या मण्डल के चारों ओर लगाई जाती हैं और उस पर चन्दरूआं, लाल डोरी और लाल वस्त्र, अक्षत, पुष्प, फल, द्रव्य सहित बांध दिया जाता है। यहां तक कि जीवन के महोत्सव विवाह में भी वेदी जितनी ऊंची चाहो बांस के सहारे से ऊंची चढ़ा लो और काठ के मोर, चकोर, तोते आदि कलाकृतियों से उसे शोभित कर लो। स्वागत-द्वार भी बांस से बनाया जाता है। तोरण पर आम्रदल और मंजरी माला भी बांस के सहारे ही शोभा को पाते हैं।

बांस जहां इस लोक की यात्रा में स्वागतम् वाले द्वार से शोभित है वहां परलोक की यात्रा में भी अर्थी और चिता की सज्जा से सीढ़ी के रूप में स्वर्गारोहण की झलक प्रस्तुत करता है। यहां तक कि प्राणों की ऊर्ध्वगति के लिए धधकती हुई भयानक चिता में शव का कपालमोचन भी लम्बे बांस से ही किया जाता है। मरणोपरान्त देही की सद्गति के लिए क्रिया-कर्म, बारखी (वार्षिकी), चवर्ख (चातुर्वार्षिक श्राद्ध) में भी बांस की टहनियों से ही मण्डप सजाया जाता है और पितृ पूजा सम्पन्न की जाती है।

इस प्रकार सर्वांगीण कार्य कलाप में वंश और वंश सम्बन्धी शब्दावली से हिमाचल जन-जीवन का कोश समृद्ध है। गांव-गांव में नई-नई बोली और नये-नये शब्द मिलते-जुलते प्रतीत होते हैं –लाठी कहो या सोट्टी सोट्टू, छिटी कहो या छिमक, डांग कहो या ढांग-ढांगी, डण्डा कहो या अंग्रेजी में स्टिक या रूल –ये सब एक ही वंश दण्ड के रूप हैं। बिना वंश दण्ड के तो इस संसार में व्यवहार कठिन है। चूल्हे में आग भी जलेगी तो वंश दण्ड के प्रकार भंपला फूकनी से। यदि वेगवती नदी भी पार करनी हो तो वंश दण्ड का सहारा लेकर पार करनी होगी। वंश दण्ड जिसके पास होता है उसके लिए यह लोकोक्ति चरितार्थ होती है –'जिस की लाठी उसकी भैंस'।

बचपन के खेल खिलौने, धनुष, तीरबाजी, बंसी वादन, यौवन के डण्डे, डांग, सोट्टे वन में हिंसक जीवों को भगाने के लिए, उपवन में फल तोड़ने के लिए, कृषि वणिज व्यापार में पेड़ू

संग्रह और तोल-जोख के लिए और वृद्धावस्था में एक मात्र सहारा पाने के लिए वंश दण्ड की महिमा सर्व विदित है।

देश और काल के भेद से वंश सम्बन्धी शब्दावली में प्रचुर भेद हैं। शब्दावली का रूप अनन्त है परन्तु यहां आवश्यक वस्तुजात सम्बन्धी प्रमुख शब्दों का उल्लेख किया जा रहा है :–

१. वंश नाम रूप :

पाली : संस्कृत साहित्य में शतपर्वा, शतफली, तृणध्वज कीचक आदि शब्दों से वंश की महिमा का गायन मिलता है। समुदाय में रहने से हिमाचली में इस क्रम को पाली कहा जाता है।

बांस सामान्यतः तीन प्रकार का होता है :

निग्गर : ठोस जो खोखला नहीं होता है। इसकी छड़ियां बनायी जाती हैं। यह बहुत मोटा नहीं होता है।

पोल्ला : यह खोखला होता है और अधिक से अधिक लम्बा होता है। इसमें कभी-कभी वंशलोचन भी मिल जाता है।

नुहार : इस के पत्ते लम्बे होते हैं। फूल सफ़ेद और छोटे-छोटे होते हैं। फल जौ की भान्ति परन्तु उससे कुछ लम्बे और कुछ पतले से दीखते हैं। दैव योग से कभी बांस फूल जाता है और अन्तिम चरण में सूख कर धाराशायी हो जाता है।

मगर-मग्गर : १५ से २५ मीटर तक की ऊंचाई वाला सुदृढ़ आकार का बांस प्रथम श्रेणी में गिना जाता है। गृह-निर्माण, सेतु बन्धन आदि विशाल योजनाओं में इसे प्रधान स्थान दिया जाता है।

नाल्-नाह्ल : कुछ पतला सी प्रकार का मध्यम श्रेणी में मिलता है।

नगाठ्ठा : चौपाल में नगाठ्ठे नाम से मध्यम श्रेणी का बांस गिना जाता है। गृह निर्माण, सेतु बन्धन आदि विशाल योजनाओं में इसे प्रधान स्थान दिया जाता है।

फ़ल्लाठी : चौपाल में छोटे प्रकार का यह बांस माना जाता है।

धड़ेंज : पक्का बांस माना जाता है।

फगल् : कच्चा बांस जो चोट मारने या तनिक चीरने से तड़ा-तड़ फट जाता है।

करीड़ा : लघु आकार का बांस जो लाठी बनाने के काम आता है।

बैंझ : सामान्य जाति बोधक है जिसके शाखा सूत्र का पता न लगे उसे बैंझ कह कर पुकारा जाता है। यह गृह निर्माण आदि के कार्य में लाया जाता है। इसके पत्तों से पशुओं का चारा स्वादु माना जाता है। सूखने पर जलाने के लिए यह ईंधन का काम देता है।

बैंझी : बैंझ का छोटा रूप माना जाता है।

बेंस : सिरमौरी में इस शब्द का व्यवहार है।

बेंह : नूरपुर में सामान्य बांस के लिए व्यवहार है।

बंझ : चम्बियाली में प्रचलित शब्द है।

बभली : छोटे आकार में ऊना में प्रयोग मिलता है।

बैंभड़ू : बंभोट्टू-बैंहटलू-बौहटलू आदि शब्दों का व्यवहार अनेक स्थानों में हल्के पतले बांस के लिए पाया जाता है।

बइंश : कुलुई में बांस के व्यवहार में है।

बांश : महासूई में प्रचलित शब्द है।

२. **अंग** :

२५ मीटर तक की ऊंचाई तक जाने वाले लम्बे पतले बांस के अंश अधिक नहीं है पर जो भी हैं उनके जन्तू समुदाय का वर्णन सुलभ नहीं है। प्रत्यक्षदर्शी अंगों के नाम इस प्रकार हैं :

जीहड़ा : जड़ मूल के लिए सामान्य शब्द है। इसमें दस से लेकर सौ तक बांसों का समुदाय होता है। स्थान भेद के कारण इसे जरींहडा, त्रहड़ा, त्रेड़ा, बींडा, छिक्का, पोढा आदि नामों से पुकारा जाता है। चौपाल में इसे मूंढ़ा कहते हैं जिसका अभिप्राय मूल तक ले जाना है। यह एक दूसरे से जुड़ा हुआ होता है। इसकी जड़ें धीरे-धीरे आगे फैलती हैं। एक स्थान से यदि बांस को काट दो तो यह जड़ दूसरे स्थान पर उग जाती है।

तामो : बांस के अंकुर का नाम कुलुई में प्रचलित है। नेपाली में कागजी बांस को तामो कहते हैं।

गोभू : अंकुर के समुदाय को बिलासपुरी में कहा जाता है।

मान्नू : छोटे-छोटे पर्व जो कालक्रम से ऊंचे बढ़ते जाते हैं। ये इतने कोमल होते हैं कि थोड़ी सी चोट लगने पर टूट-फूट जाते हैं। पशुओं का यह प्रिय भोजन होता है। अत: इनकी रक्षा सर्वथा करनी पड़ती है।

डट्ठा-छब्ज : प्रत्येक मान्नू अपनी रक्षार्थ त्वचा धारण किये होता है। जब यह बढ़ता है तो सांप की केंचुली की भांति अपनी बाहर की त्वचा छोड़ता जाता है। इसमें बाहर छोटे-छोटे कांटे होते हैं, और अन्दर की त्वचा बड़ी कोमल होती है। आकार सूप जैसा होता है।

ठाट्ठा : बिलासपुरी मे डट्ठा का दूसरा नाम है।

भांए-भौं : ठाट्ठा के कांटों का नाम है जो आग जलाने में तुरन्त सहायक होते हैं। भौ का व्यवहार बिलासपुरी में है।

गट्ठा-पोरी : बांस का पर्व कहा जाता है जहां नाली समाप्त होती है। इसे तोड़ कर या इसमें छेद कर नाली को जितना चाहो लम्बा बना लो। कहीं इसकी दृढ़ता इतनी होती है कि बांस का अन्य भाग चूर-चूर हो जाए परन्तु यह पर्व कठिनता से टूटता है। इसे ऊना में पोरी और बिलासपुर तथा अन्य क्षेत्रों में गिरंड भी कहा जाता है। कलुई में इसे गिल्लड़ कहते हैं। पर्व अनेक होने से बांस को शतपर्वा कहा जाता है।

चूण्डी-चूटी-शिखरी : अन्तिम छोर की लम्बी डाल जो तृण ध्वज कहलाती है। इसे अपनी ओर खींच लिया जाए तो सारा बांस वश में आ जाता है। बांस के साथ इसमें इतनी शक्ति होती है कि कभी अकेले दुकले घास काटने वाले को वेग से यह ऊपर खींच लेती है। मण्डी में इसे चूटी कहा जाता है, और चौपाल में इसका नाम शिखरी है।

टैहणी-नैहणी-पणियां : बांस की पतली डाली का नाम है यह बाड़ देने के काम अधिकतर आती है। बांस की चीर या फच्चट का भी यही नाम है। मण्डियाली में इसे फाड़ और दुफाड़ के नाम से भी पुकारा जाता है। कुलुई में इसे दार कहते हैं। कई स्थानों में इसे फलटी भी कहा जाता है। बिलासपुरी में इसे पणियां कहा जाता है।

अंगड़-छिमक : लम्बी पतली-पतली डालियां जो पत्तों से भरी होती हैं। पत्ते अलग कर इनकी लकड़ी इन्धन के काम आती है।

पतराह : बांस के पत्ते पशुओं का मनचाहा खाद्य है। दूध देने वाले पशु इसे खाकर अधिक दूध देते हैं। बांस की पतली कोमल टहनियां भी इसमें आ जाती हैं।

तारां : टहनियों के लम्बे-लम्बे तन्तु समुदाय का नाम है। ये इतनी तीखी होती हैं कि असावधानता से पकड़ने पर हाथ या अन्य अंग तेज धार से कट कर लहू लुहान हो जाता है।

भरोटू-परोट्टू-भरो-ढिणकी : बांस के पत्तों की लिपटन में छोटे लम्बे गुच्छेदार कीड़े रहते है। ये संक्रामक रोग लाने वाले होते हैं। यदि पशु इन्हें खा जाए तो उदर रोग से ग्रस्त हो जाते हैं। मण्डी में इन्हें भरो कहते हैं और चौपाल में ढिणकी कहलाते हैं।

३. कृषि उपकरण :

खेत, खलिहान में बांस का बड़ा योगदान है। फसल बीजने से लेकर छांट-छान कर, पकने पर्यन्त घर में पहुंचने तक बांस का प्रयोग और उपयोग व्यापक रूप में है।

छुब्बा : यह रस्सी या डोरी का काम देता है। झील-कांटे जकड़ने के लिए बांस के मोटे तन्तुओं का प्रयोग किया जाता है। नाल या टैहनी लगा कर और छुब्बा कस कर बांधने से बाड़ पक्का हो जाता है। इससे खेत की रक्षा होती है। कोई व्यक्ति या पशु इसे पार करने में अपने आपको असमर्थ पाता है।

छछरा-छिछरा-डिम्ब-बन्ह : छुब्बे का अन्य प्रकार है जो मार्ग निर्माण में घर की छत बनाने में या खेत में बिछाने के काम आता है। मण्डी, हमीरपुर और बिलासपुर में इसे डिम्ब कहते हैं।

मैहला-ओड़ा-छोलड़ा : दो या तीन मीटर का बांस धरती पर गाड़ दिया जाता है जो स्तम्भ का काम देता है। इससे बाड़ की पकड़ की जाती है। सीमा विवाद में यह विभाजन रेखा मानी जाती है। चौपाल में इसे छोलड़ा कहते हैं।

भैकड़ाहड़-भैकू-फरादा-प्रौहटा : बांस का लम्बा डण्डा जिस के आगे कुल्हाड़े या हथौड़े की भान्ति चपटी मोटी लकड़ी लगी होती है। इससे मिट्टी के ढेले तोड़े जाते हैं। मण्डियाली में इसे फरादा कहते हैं और आस-पास के क्षेत्रों में प्रौहटा कहलाता है। मिट्टी दबाने में द्रुमट भी कहा जाता है।

भरोट्टा-भुटाण-कोठला-कुठेल्ला : बिलासपुरी में इसे भरोट्टा और सुजानपुर के आस-पास भुटान कहा जाता है। अन्यत्र कोठला और कुठेल्ला भी कहते हैं।

छिणी-कूड़ी : बांस की लम्बी लाठी जिस से भूसा और दाने अलग किए जाते हैं। चम्बियाली में इसे कूड़ी कहते हैं।

चांगला-करयाठी-सांगी-त्र्योंगला-त्र्यंगुल : इन शब्दों का प्रयोग छिणी के अर्थ में किया जाता है। चांगला का व्यवहार कुलूई में है। करयाठी का प्रयोग बिलासपुरी में है। सांगी, त्र्यंगुल और त्र्योंगला तीन ऊंगलियों जैसा व्यवहार व्यापक रूप से है।

झौंखरा : बांस की खुरदरी छोटी-छोटी डालियां जोड़ कर बड़ी झाड़ू बनाई जाती है जिस से खड़े-खड़े अन्न की स्थली साफ की जाती है।

दन्दाल : बांस की कंघी जैसा प्रसाधन जो खेत में छोटे घास को अलग करता है।

करड़ू-चाऊं-किड़ू : आम, सन्तरे आदि फलदार वृक्षों की वृद्धि और रक्षा के लिए बांस का जाल या झरोखा बनाया जाता है। नूरपुर में इसे किड़ूं और आस-पास में इसे चाऊं कहा जाता है। व्यक्तिगत भेद से इसके अन्य नाम हैं –**किरणू, किरड़ू, किरड़ूं, किड़नू, किरनू, किरनी** आदि। इनके निर्माण में बहुधा डूमणा का योगदान होता है।

पनौड़ी-पर्णणी-पर्णग् : बांस की छावड़ी जो दाने पुनने के काम आती है। इससे छोटे और बड़े दाने भी अलग किए जाते हैं।

४. दण्ड-नीति और आखेट :

वन सम्पदा, उपवन तथा कृषि प्रधान हिमाचल प्रदेश में कृषि को क्षति पहुंचाने के लिए, मनुष्य, पशु और पक्षी सदा ताक में रहते हैं। उनको भगाने या वश में करने के लिए वंश दण्ड की नीति अपनाई जाती है। छोटे बांस से लेकर बड़े बांस का प्रयोग दण्ड विधान में किया जाता है। दण्ड नीति और आखेट के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग है। कुछ शब्द ऐसे हैं जो एक ही समुदाय में बोले जाते हैं। दूसरे लोग उसे समझ नहीं पाते हैं। शिकारी की भाषा शिकारी ही जानता है। कुछ प्रमुख शब्द जो व्यवहार में हैं और जिन का सम्बन्ध बांस से है, उनका उल्लेख इस प्रकार किया जाता है :–

ढप, ढाप, टाप, टप्प, छिणका, अरड़ा, टोकरू, कुड़कुड़ी, क्याड़ी मरोड़, कमाली, फन्दा, फाह, फाटक, किडनू आदि शब्दों का व्यवहार पक्षियों, जीव जन्तुओं और पशुओं को पकड़ने के लिए ट्रैप के रूप में किया जाता है। यह बांस की खपच्चियों, रस्सियों, धागों को नाना प्रकार से बांध कर और डाल की शाखाओं को झुका कर जाल लगाया जाता है। शिकार जब यहां से गुजरता है तब उसकी टांगें या गर्दन या शरीर का अन्य भाग जाल में फंस जाता है और वह पकड़ लिया जाता है। प्रदेश में जब कृषि बचाओ आन्दोलन चलता है तब ऐसे जाल में बानर और घुलान्दर भी पकड़े जाते हैं। तोते और चिड़ियों के जाल और गर्दन-तोड़ फन्दे तो बहुत हैं। चूहे पकड़ने वाली घुरकड़ी और क्याड़ी-मरोड़ का प्रयोग अधिक रूप से है। बांस की खपच्चियों से या टोकरू लगा कर बच्चे बुलबुल और चिड़िया पकड़ लेते हैं। टाप और टप्प में बांस के सहारे मछली का शिकार किया जाता है। टोकरी, बिहड़ू, बाट्टू आदि लगा कर लम्बे बांस के डण्डे और डोरी से कण्डी का प्रयोग कर रोटी, आटा या कोई कीड़ा मकौड़ा लगा कर मछली पकड़ने का यत्न किया जाता है। नदी के आर पार और बीच में बांस के डण्डे गाड़ कर और रस्सी में कीड़े मांस या अन्य भोजन बांध कर मछली कण्डी से पकड़ी जाती है। इस प्रकार आखेट के जाल के अन्य कई साधन हैं जो एक अन्य रूप से शोध शब्दावली का विषय है।

छटी-छिटी-छटा : बांस की पतली टहनी जिससे बच्चों को डराया जाता है और पशुओं को खदेड़ा जाता है। इसकी प्यार भरी मार लोक-गीतों में भी प्रसिद्ध है, जैसे कि एक पंक्ति उद्धृत है :-

जणेतियो ! मता नी ग्लाश्रो श्रसां जो नी डराश्रो।
खांहगे छटियां दी मार रगड़ने गोडेयां दे भार।

छिमक-कनरी-कबरी : हरे बांस की छड़ी का प्रयोग पशुओं को ताड़ने, घेरने और दूर से डराने के के लिए किया जाता है।

सोट्ठी-सोट्ठू-दुम्मा : बांस का छोटा डण्डा जो यात्रा में सहारा होता है और हिंस्रक जीवों को डराने में काम आता है। किन्नौरी बोली में इस दुम्मा कहा जाता है।

डांग-सोठा : दो तीन मीटर का लम्बा बांस का डण्डा जिसका प्रयोग मारपीट कलह आदि के प्रसंग में किया जाता है। इस प्रसंग में विवाह में बरातियों को सुनाने के लिए एक गीत भी गाया जाता है :

उठी गए बचारे
क्या बोलिए डांग सोठे मारे।

अंगड़-अम्बड़ : बांस की खुरदरी सी टहनी जिसके भाग अभी काटे नहीं होते हैं। इसकी मार कभी रक्तवाहिनी भी हो जाती है।

अंण-पंण-लुगड़-सलैंठ-परैंठ : बांस की नुकीली लाठी जिससे बैलों को हल चलाते समय कच्छ पर चलने के लिए के लिए चोभ दी जाती है। कुलूई में इसे लुग्गड़ कहते हैं। मण्डियाली में परैंठ का व्यवहार है। हमीरपुर में सलैंठ भी कही जाती है। इसके अतिरिक्त दण्डनीति में कुल्हाड़ा, बरछा, भाल्ला गुप्ती आदि शस्त्रों में बांस का प्रयोग अधिक रहा है जो अब स्वचालित बन्दूक स्टेनगन आदि के आने से लोक गाथा में ही अवशेष रह गया है। मनुष्यों और पशुओं को बन्धन में लेने के लिए बांस का प्रयोग अभी भी किया जाता है।

खुण्डा-खुण्ड-खुण्डली-खुण्डी : पशुओं को बांधने के लिए बांस की खूंटी भूमि में गाड़ दी जाती है। उजाड़ करने वाले या भागने वाले पशु की गति सीमित करने के लिए उसके गले में खूंटी लगा दी जाती है जो पैरों से टकराने के कारण उसे भागने में असमर्थ कर देती है।

थम्मी-टयोक्की : लम्बे बांस से छत को सहारा देने वाले स्थाणु का प्रयोग कभी शरारती बच्चे को बांधने के लिए भी किया जाता है। मां अपना काम करती रहती है बच्चा बन्धा रह कर छटपटाता रहता है।

छक्कू-छिकड़ा : बांस के तन्तुओं से बना छिकड़ा पशुओं के मुंह पर लगाया जाता है जिससे वे अन्न घास आदि चर न सकें।

जुंगल-पंजराली : बांस का दण्ड जो पशुओं को नियन्त्रण में करने के लिए कन्धे पर दिया जाता है।

ठुण्ड-कील्ला-कील : मार्ग में बाधा डालने के लिए प्रयोग किया जाता है।

५. साधन :

कठिन मार्ग के परिष्कार या उद्धार में अथवा नदी नाला पार करने में लम्बे बांस आर-पार लगा दिए जाते हैं जिससे यातायात सुगम हो जाता है। कुछ अन्य भी ऊंचे-नीचे जाने के साधन हैं :

परसैंण-मांज-शीड़ : बांस की ऊंची लम्बी पौड़ी बनायी जाती है। यह कुएं में उतर कर पानी भरने में सहायक सिद्ध होती है। पर्वत, घर या वृक्ष पर चढ़ने का साधन बनाती है। कुलुई में इसे शीड़ कहते हैं। यदि इसे सीढ़ या सीढ़ी कहें तो मरण वाहन का संकेत मिलता है।

मंभी-मांजलू-गेड़ा-संगा : ये शब्द छोटे आकार की पौड़ी के लिए है। चम्बयाली में इसे मंभी कहते हैं। इसे द्रोहला (मधुमक्खियों) से मधु लेने में सहायता ली जाती है। कुलुई में इसे गेड़ा कहा जाता है और बिलासपुरी में संगा।

ढुंगी-ढंगूई-ढांगी-छिकड़ी : फल आदि वृक्ष से सुरक्षित रूप में उतारने के लिए बाँस के दण्ड का प्रयोग होता है। चौपाल में इसे छिकड़ी कहा जाता है।

टम्मण-छिमण : जड़ समेत उखाड़ा हुआ लम्बा बांस जिसके मूल की टेढ़े भाग से वृक्ष की शाखा झुकाकर फल या पत्ते तोड़े जाते हैं। हमीरपुर में उसे छिमण कहा जाता है।

नाल् चप्पा : नदी की गहराई नापने के लिए बांस का प्रयोग किया जाता है नदी पार करते समय बेड़ी को बांस के सहारे चलाया जाता है। लम्बा बांस नदी में पत्थरों के बीच फंसा दिया जाता है और धक्का मार कर बेड़ी आगे की जाती है। तेज धारा में यह चप्पू का काम भी दे देता है।

६. यातायात के साधन :

यातायात के साधनों में बांस का प्रयोग विशेष रूप से होता है।

पुल् : नदी नाल खड्ड पार करने के लिए, दुर्गम स्थल पर चढ़ने के लिए तथा खाई कूहल पार कर जाने के लिए चार पांच लम्बे बांस आर-पार रख दिए जाते हैं जो सेतु निर्माण की प्राचीन कला की याद दिलाते हैं। लचकदार झूले की तरह लगे इन बांसों के पुल से यात्री आनन्द-पूर्वक पार आ जाते हैं।

डक : बांस और पत्थरों की सहायता से नदी में बांध बनाया जाता है जिससे पानी की कूहल निकाली जाती है जो सिंचाई का साधन बनती है। कहीं-कहीं भूमिक्षरण में और बाढ़ में रक्षा के लिए मिट्टी और पत्थर के साथ बांस के प्रयोग से दीवार खड़ी की जाती है। यह प्राचीन यातायात में मार्ग का काम भी देती है।

चप्पा-बल्ली : लम्बी और मोटी नाल नदी में बड़े-बड़े पत्थरों के बीच गाड़ दी जाती है और नाव को धक्का मार कर चलाया जाता है। बेड़ा या बेड़ी भी दो बांसों के जोर से चलाई जाती है। बड़ी नदी में बांस पानी में चट्टान के सहारे अटक जाता है और बेड़ी को इससे धक्का लगाया जाता है। जब बांस का सिरा दूर रह जाता है तो इसे खींच कर पुनः बेड़ी के पास धक्का मारने के लिए नदी में डुबो कर टिकाया जाता है। प्रवाह में बांस बड़े चप्पू का काम भी देता है। इसे पांच या छः मनुष्य जोर लगाकर चलाते हैं।

डोला-पालकी : -**डोली** का व्यवहार अब भी है जहां मोटर गाड़ी अभी तक नहीं पहुंची है। विवाह में कन्या की विदाई के लिए पालकी लाल लुहान से चांदी के कलश लगाकर शोभित की जाती है। डोली के गीतों में इसका सुन्दर वर्णन मिलता है।

तेरेयां महलां दे अन्दर जो बापू मेरा डोला अड़या।

सुखपाल : लाड़ा (दूल्हा) को बिठाने के लिए डोली का नाम सुखपाल है। यह चारों ओर से खुला रहता है जिससे लाड़ा की शोभा यात्रा धूमधाम से निकल सके।

आगली : पालकी और सुखपाल को धारण करने वाले डण्डों को आगली के नाम से पुकारा जाता है।

लटरू : दो बड़े डण्डों के बीच में आगे पीछे लटकने वाले बांस के छोटे-छोटे डण्डे जिन्हें कन्धे पर उठाकर पालकी चलाई जाती है। बोल बाला करते हुए चार मनुष्य दुर्गम पथ पर भी पालकी उठा ले जाते हैं।

बेंहगी-आगल : पानी के घड़े या छोटा मोटा भार ढोने के लिए बांस की बनी झूलेदार आगल का प्रयोग किया जाता है। कुल्लू में आगल का व्यवहार है।

७. गृह निर्माण :

गृह निर्माण में विरला ही कोना मिलेगा जहां बांस का प्रयोग न दिखाई दे। घर की देहली से लेकर शिखर तक बांस का प्रयोग मिलता है। यहां तक कि मिट्टि गोबर से लिपी-पोती दीवारों और उनके भागों को भी बांस किसी न किसी रूप में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से टिकाये हुए मिलता है। जहां बांस का प्रयोग अधिक रूप में होता है उन साधनों का वर्णन इस प्रकार है :

टपरो-टपरू-पल्ली-कुल्ली-छन्न : ये छोटे-छोटे आवास गृह पर्वत में इतने सुन्दर लगते हैं जैसे कि प्रकृति के सुन्दर खिलौने हों। खड़ घास को बांस के ऊपर और नीचे कलापूर्ण बन्धन में डाल कर छत का निर्माण किया जाता है। बाहर अन्दर रंग बिरंगी मिट्टी और गोबर से पोताई कर मानों यह ऋषि कुटीर बन जाती है। इसे 'कक्खां री छन्न या कखां रा टपरू' कह कर खड़ घास की योगदान को दर्शाया जाता है। यह वातानुकूलत होकर गर्मी में शीतल और सर्दी में गर्म होता है।

तन : आम या अन्य वृक्ष पर छोटा सा बांस का घर बनाया जाता है जिसमें बैठ कर ढोल ढमाका बजाकर कौओं, गीदड़ों आदि से खेत की रक्षा की जाती है। प्राय: यह बरसात के दिनों में मक्की की फसल उगने पर लगाया जाता है।

छछरे : बांस को कूट कर लम्बा चौड़ा जाल बनाया जाता है जो छत पर या भूमि पर बिछाया जाता है। इसके ऊपर मिट्टी और गोबर लीप दिया जाता है जो सीमेंट की भांति पक्का हो जाता है।

त्रेक्का : वृक्ष के ऊपर बनाया बांस का छोटा सा घर तीन ओर से ढका होता है और एक ओर से खुला होता है।

बहरल : छन्न को टिकाने के लिए एक बड़ा बांस दीवार से आर-पार लगाया जाता है जिसके सहारे बांस की कड़ियां टिकी रहती हैं।

बला-बौंहलू : दीवार के आर-पार छत की पकड़ के लिए प्रयोग में लाया जाता है।

थम्मी-थूणी-थूहा : छत के भार से बहरल झुकने लग पड़े तो उसकी रक्षा के लिए बांस का स्तम्भ लगाया जाता है।

कोला-दास्सा : थूहे के नीचे दास्सा होता है जो बांस के डण्डे को आगे पीछे करने में सहायक होता है।

टयोक्की : गिरते हुए मकान के भाग द्वार, गवाक्ष आदि को झुकने से रोकने के लिए बांस का टिकाव लगाया जाता है।

छज्ज-छज्जा : बांस की पचट्टें बांध कर मुण्डेर और खिड़की का निर्माण किया जाता है—जहां छोटी मोटी चीजें या गोहटू गोबर सुखाने के लिए रक्खा जाता है।

भरथ-भित : बांस से डण्डों के बीच मिट्टी इस रूप में भरी जाती है जिससे मिट्टी की दीवार खड़ी हो जाती है और ईंटों के काम से मुक्ति मिल जाती है। इस क्रिया को भित भरना कहते हैं।

चौखट : बांस से दरवाजे का आकार बनाया जाता है। खिड़की आदि लगाने में भी यह सहायक होता है।

चोब्भू : घर की ऊपर की मंजिल में जाने के लिए बांस का द्वार बनाया जाता है।

कोठरू-ताख-ताक : बांस की छोटी अलमारी बनायी जाती है जिसके भागों में मिट्टी पोती हुई होती है।

झारना-लकोला : वायु प्रवेश का मार्ग और आवश्यक वस्तुओं को रखने के लिए बांस की फट्टियों से बना साधन है।

कीलणी-कील्ली : बांस की खूंटी कपड़े आदि टांगने के काम आती है।

बिलंग : छत से रस्सी के सहारे बांस का डण्डा लटका दिया जाता है जिस पर विस्तर पट्टू आदि लटका दिए जाते हैं।

मंजा-मंजीं-मंजोलू : चारपाई प्रायः बांस की होती है जिसे सुगमता से उठा कर इधर-उधर लाया जाता है।

बाही-पट्टी : बांस का लम्बा डण्डा जो चारपाई की बुनती पकड़ता है।

सरोआ-सरंहण-सेरू-सिरेखा : मंजी मंजोलू के शिरोभाग में लगे बांस के डण्डे का नाम है।

सन्दोड़-सनोड़ी : चारपाई के शिरोभाग को कहा जाता है।

पनोड़ी-पन्दोड़ी : चारपाई के अधोभाग को पैरों के लिटाने के लिए कहा जाता है।

अर्ली : घर के प्रवेशद्वार में बांस के दो डण्डे लगाये जाते हैं जिन्हें खोल कर मनुष्य प्रवेश पा सकता है, पशु नहीं।

फलाह-लंघाणा-जंगला : ये भी बांस के बनाए प्रवेश द्वार हैं जो रस्सी से या संकुली से बन्द किए होते हैं।

बिल्ली-कुण्डा : इन द्वारों को खोलने चढाने के लिए बांस की चिटकनी का प्रयोग किया जाता है।

८. चलता फिरता घर घराट-गोटङ् :

जापान में भूकम्प के प्रकोप को सहन करने के लिए कागज और गत्ते के आवास बनाए जाते हैं। इसी प्रकार हिमाचल प्रदेश में बांस और खड़ घास के बनाए गये घर पल्ली घराट चलते फिरते प्रतीत होते हैं। हिमपात के कारण सर्दियों में नदियों का पानी जैसे घटता जाता है घराट भी वैसे उनके निकट चला जाता है। हिम पिघलने से गर्मियों में जैसे नदियों में पानी बढ़ता जाता है घराट भी उसी प्रकार आगे बढ़ता जाता है। किन्नौर में घराट के लिए गोटङ् शब्द का व्यवहार है। इसी प्रकार मछली पकड़ने वाले और द्रेई (कैवट) की टपरी कुल्ली भी। जल प्रवाह देखकर आगे पीछे चलती फिरती प्रतीत होती है। गांव या घर में किसी यज्ञ, विवाह या अन्य समारोह का आयोजन करना हो तो कोई कुटिया रसोई आदि बनानी हो तो उसके लिए शीघ्र साधन उपलब्ध होते हैं जैसे :

किड़ा : चार पांच मीटर ऊंचा नौ से दस मीटर की ऊंचाई तक का बड़ा या छोटा बांस की कटनी करके बनाया जाता है। भूमि परिमाण के अनुसार इसे स्थली के चारों ओर खड़ा कर दिया जाता है। इसे सहारा भी बांस के डण्डों का दिया जाता है। यदि यह निर्माण नदी के तट पर किया हो तो कभी अकस्मात बाढ़ आ जाने पर तैरता घर घराट नज़र आता है। विवाह आदि समारोहो में किड़ा बांध दिया जाता है और धाम (बड़ा खाना) का आयोजन इसके भीतर होने लगता है। खड़ घास से छप्पर का निर्माण करने से यह ऋतु के अनुसार पूर्णतया सुखद बन जाता है। बातानुकुल करने के लिए किड़े को दलेई गोबर मिट्टि से लेप कर दिया जाता है जिससे ग्रीष्म में शीत भाव और शरत् में उष्ण भाव संचरित होता है। लहंदा (अब पाकिस्तानी) बोली में तो किड़ा का अर्थ ही झोंपड़ी और कुल्ली है। इसका पुराना इतिहास संस्कृत के शब्द कर से जोड़ा गया है। कटक का अर्थ है–शिविर। चौपाल में यह पुलिंग रूप में **कुल्ला** से व्यवहृत किया जाता है। घराट के प्रसंग में बांस की बड़ी देन का वर्णन यहां आवश्यक प्रतीत होता है।

ओड़ली-ओड़ी : एक या दो क्विंटल दाने रखने की क्षमता वाला बांस का टोकरा ऊपर से खुला और नीचे तनिक खुले मुँह से धीरे-धीरे दाने गिराता जाता है जिन्हें चक्की पिसती जाती है।

घोड़ी : चक्की के ऊपर काठ की घोड़ी लगी होती है जो मन्द या तेज गति से आवश्यकतानुसार हिल जुल कर औड़ली से दाने गिराती रहती है।

आलूआ : इसके ऊपर नियन्त्रण लगा हुआ होता है जिससे दाने समान गति से चक्की में गिरते हैं।

ओड़ा-ओड़ी-ओरा : भेड़ बकरियों का आवास बांस के छोटे बड़े खण्डों से तैयार किया जाता है।

घराल़-घराल़ू : पशुओं के आवास का निर्माण योजनानुसार किया जाता है जिसमें पांच-दस गौ, बैल, भैंस आदि बांधने की व्यवस्था होती है। इसमें बांस की छत झारने और झरोखे बनाए

जाते हैं। छत पर घास रखने का प्रबन्ध किया जाता है। यह जरा घर से दूर बनायी जाती है क्योंकि इसमें प्रचण्ड आग लगने की सदा आशंका बनी रहती है।

घाल : चार पांच सौ बांस इकट्ठे बांध कर बेड़ा बना दिया जाता है और नदी में छोड़ दिया जाता है। इस पर खान-पान परिधान की आवश्यक सामग्री रख दी जाती है। दस बीस तारूजन पहाड़ से मैदान की जलयात्रा आरम्भ कर देते हैं। जहां आवश्यक वस्तु चाहिए हो या आराम करना हो वहां बेड़ा रोक लिया जाता है। कुछ ही दिनों की यात्रा के उपरान्त यह बांस का समुदाय मैदानी व्यापार केन्द्र में पहुंच जाता है जहां इसे बेच दिया जाता है। अब चोरी की आशंका और अधिक यात्रा समय के कारण बांस के समुदाय को ट्रक या गाड़ी में लादकर एक ही दिन में व्यापार केन्द्र में पहुंचा दिया जाता है।

घाल्-तारू : इसके संवहन करने वाले साहसी व्यक्ति दिन रात नदी के वेगों में हंसते गाते जाते हैं।

९. उपकरण :

बांस के उपकरण प्रत्येक साज-सज्जा सहित सुलभ हैं। यहां तक कि भोजन पकाने में कलछी न मिले तो बांस की सधी हुई शाखा दाल भात की हिलजुल में काम आ जाती है। विशाल यज्ञ भोज के अवसर पर कई क्विंटल चावल पकाये जाने पर रखने की समस्या बांस का किड़ा या बड़ा टोकरा ही निपटाता है। गर्म-गर्म भात बांस के डण्डे से अपनी ओर खींचा जाता है। ततापानी मणिकर्ण आदि उष्ण जल स्रोतों में बांस की टोकरी में चावल उबाले जाते हैं। टोकरी में पानी पिच्छ (लुगड़ी) अलग हो जाती है और सुगमता से बना बनाया भात मिल जाता है। अन्न के संग्रह के उपकरणों से लेकर खाना बनाना, परोसना, सजाना, संवारना आदि के लिए अनेक उपकरण हैं। इनमें प्रमुख ये हैं :

पेडू-ढण्ढू-घूलू : बांस के बने एक मीटर से तीन चार मीटर की ऊंचाई वाले इस संग्रह में एक से पांच क्विटल तक चावल, गेहूं, मक्की आदि भर दिए जाते हैं। गोबर से इसका लेपन किया जाता है। इसे बरबार या कोठी भी कहते हैं परन्तु अब कोठी सीमेंट की बनायी जाने लगी है या टीन की टांकी विशाल भाण्डा प्रयोग में लाया जा रहा है। चम्बियाली में इसे ढण्ढू कहा जाता है। सिरमोरी में इसी प्रकार की अभिधान घूलू है पर इसका रूप उस से मिलता-जुलता है।

कोठड़-पीछड़ी : कुलुई में इसे कोठड़ कहते हैं और चौपाल में पीछड़ी कहते हैं।

अहणा-गलूआ : आवश्यकतानुसार दाने निकालने का स्थान रख लिया जाता है। गलूआ से दाने तीव्रधारा से निकलते जाते हैं।

डलाहरा-डल : बांस का बनाया बड़ा टोकरा जिसमें विविध सामान अन्न और भोजन आदि रखे जाते हैं। प्रायः दुकानों में आटा, दाल, गुड़ आदि रखने के लिए इसका प्रयोग होता था। अब लकड़ी के खाने बन गए हैं पर उन से वस्तुए निकालने के लिए बांस का ही प्रयोग किया जाता है। जिससे दाल के दाने बाहर न निकल सकें।

दालठा : इस प्रकार का टोकरा बिलासपुरी में व्यवहार में लाया जाता है।

डल्लू : छोटे ग्राकार की डल जो पूर्ण रूप ग्रहण न कर सके ।

पड़ा : बांस के बड़े टोकरों को लेप नहीं किया जाता है इसे जब चाहो पानी में धो लो ग्रौर सुखा लो।

टोकरू-खोखड़ू : बांस की मध्यम श्रेणी की टोकरी जो छोटी मोटी वस्तु लकड़ी, पत्थर, मिट्टी, गोबर ग्रादि के संग्रह करने में ग्रौर दूसरे स्थान पर ढोने के काम ग्राती है। इसे सिर पर या कन्धे पर धारण किया जाता है । चम्बियाली में इसे खोखड़ू कहते हैं ।

छंभा : बांस की चौड़ी सीखों से बनाई साधारण टोकरी जिस में घास पत्ते इकट्ठे किए जाते हैं। इसका व्यवहार चम्बियाली में है ।

किलटा-किरड़ : निम्न भाग से तंग ग्रौर ऊपरी भाग से खुले मुंह वाला बांस का टोकरा पीठ पर सामान ढोने के काम लाया जाता है। इसे बगल ग्रौर कन्धे पर रस्सी से बांध लिया जाता है। मार्ग में चलते चलते जहां भी ग्राराम की ग्रावश्यकता हो वहां ऊंचे पत्थर पर इसे टिका कर व्यक्ति ग्रपनी थकावट दूर कर सकता है ।

किरड़ी : छोटे ग्राकार का किलटा बच्चों के लिए या थोड़ा सामान ले जाने के काम ग्राता है ।

करडु-करण्डी-कण्डी : कुल्लू, मलाणा ग्रादि स्थानों में टोकरी के लिए व्यवहार में लाया जाता है। चन्द्राखणी पर्वत के सन्दर्भ में एक किंवदन्ती है। इस देवभूमि को 'ठारह करडू' के नाम से पुकारा जाता है। यहां जमदग्नि ऋषि कैलाश की परिक्रमा कर कुल्लू की ग्रोर यात्रा कर रहे थे। एक टोकरी में उन्होंने ग्रठारह देवताग्रों की मूर्तियां शिरोधारण की हुई थीं। हामटा ग्रौर मलाणा के मार्ग से वे जब चन्द्राखणी पर्वत पर पहुंचे तो पवन के झोंके इतने तेज ग्राए कि देवताग्रों की मूर्तियां टोकरी से उड़ गईं ग्रौर दूर-दूर तक पहुंच गईं। जिस-जिस स्थान पर ये मूर्तियां पहुंची उस-उस स्थान पर देवता साकार हो गए। उस समय ग्रठारह देवताग्रों के लिए ग्रठारह करडू बनाए गए। इसी ग्राधार पर इस भूमि को 'ठारह करडू' के नाम से प्रतिष्ठित किया गया ।

खार-खारी : परात जैसे खुले चौड़े बर्तन की भान्ति बनाई गई टोकरी जिस में विविध सामग्री रखी जा सकती है। व्यवहार में ग्रादान प्रदान के लिए खारे का विशेष व्यवहार है। विवाह में कन्यादान के ग्रवसर पर लाजा होम में संगीत की ध्वनि में भी खारे का वर्णन मिलता है :

खारे दित्ते बदलाई धीए हुण होई पराई ।

खारटू : खारी का लघु रूप जिस में थोड़ी वस्तु ग्रादान प्रदान की जाती है ।

डल्ला : उबाले चावलों को रखने के लिए बनाई गई टोकरी जिस में एक क्विटल तक भात ग्रा सकता है ।

भताबड़ी : पैंठ (पंक्ति) में बैठे ग्रतिथियों को भात बरोसने के लिए सुन्दर टोकरी बनाई जाती है जो गर्म पानी से धोई जा सकती है ।

डोग्रा तैंत्था : तपती भट्ठी में उबलते चावलों को हिलाने जुलाने तथा बाद में भतावड़ी में डालने के लिए बांस की लम्बी कलछी काम में लाई जाती है ।

पटारी : बांस की बनी टोकरी जो चारों ओर से बन्द होती है। इसका ढक्कन भी सुन्दर होता है। इसे चमड़े या बढ़िया मोटे कपड़े से चारों ओर सिल दिया जाता है। घर की आवश्यक और बहुमूल्य वस्तुएं रखी जाती हैं। सूटकेस और ट्रंक के आने से पूर्व पटारी का ही प्रयोग अधिक था। पटारी की चोरी या नाश बड़ा नाश समझा जाता था।

सुहाग पटारी : लाल कपड़ा लिपटाए गोटे किनारी से सजी धजी बांस की बनी पटारी आकर्षक होती है। आजकल विवाह में वस्त्रों और आभूषण से भरे ट्रंक या अटैची-केस को लाल कपड़ा या लाल डोरी बांध दी जाती है जिसे परम्परागत नाम सुहाग पिटारी दिया जाता है। विवाह में प्रस्थान कर रही बारात के आगे-आगे सुहाग पटारी वाला वीर काम्मा चलता है।

जादू पटारी-सर्प पटारी : बन्द मुंह वाली पटारी में चमत्कार दिखाने वाली चीजें रखी जाती हैं जिन्हें निकाल कर जादूगर अपनी कला का प्रदर्शन करता है। सपेरा इसमें सांप रखता है और सांप को बाहर निकाल कर वीणा बजा कर नचाता है। इसे सर्प पटारी कहते हैं।

पटारू : लघु आकार की पटारी जिसमें काम काज की छोटी-छोटी वस्तुएं रखी जाती हैं। यह श्रृंगारदान का भी काम देती है। गुड़ियां रखने के भी काम आती है। 'गुडियां दा पटारू' बड़ा प्रसिद्ध है जिसे कन्याएं सजा कर, सम्भाल कर रखती हैं। पूरे श्रृंगार से इसमें गुड़ियां रखी होती हैं। चोरी के भय से कन्याएं इसे घर के किसी कोने में रखती हैं। इस युग में ब्रीफ-केस या सफारी ने पाटारू की महिमा समाप्त कर दी है।

पटार : बड़े आकार की पटारी जिसका उपयोग मैले कुचैले वस्त्र या खिंध सीने के लिए गुदड़ रखने के लिए होता है। सभा में इसका प्रदर्शन उपहास वाला होता है।

छड़ : सभा का श्रृंगार समझी जाती है, खुले मुँह की टोकरी जिसके चारों किनारे रंग राग से भरे होते हैं। इसमें वस्त्र, आभूषण और सुन्दर वस्तुएं प्रदर्शनी के रूप में लगाई जाती हैं। विवाह आदि उत्सव में चम्बा के सुन्दर रूमाल से यह ढकी जाती है। इसमें वस्तु विन्यास के लिए चतुर महिला का योगदान होता है। आजकल के ट्रे की भान्ति अतिथि को वस्तु छड़ में रखकर प्रस्तुत की जाती है।

छाबड़ी : छोटे आकार की बाल्टी की तरह बनाई टोकरी जिसमें अन्न, दाने आदि विविध सामग्री रखी जाती है।

छाबड़ू : छाबड़ी का छोटा आकार जिसे लेकर बच्चे खेल खिलौने रखते हैं।

चंगेर : छड़ का आकार तनिक गहरा होता है परन्तु चंगेर उभरी हुई होती है। इसमें धूप, वायु लगने के लिए पर्याप्त स्थान होता है। इसका मुँह खुला और पैंदी संकरी होती है। गीली-भीगी वस्तुएं इसमें रखकर सुखाई जाती हैं। विवाह आदि उत्सव में भटूरू, रोटियां इसी में अलग-अलग रखी जाती हैं। जिससे वे एक दूसरे के साथ चिपक न जाएं।

चंगेरटू : चंगेर का छोटा रूप जो मूली, जिमीकन्द, अमाकड़ी सुखाने के प्रयोग में लाया जाता है। छोटे परिवार के लिए रोटियां, भटूरू इसी में घड़ कर रखे जाते हैं।

छड़ोल्लू : छोटी गहरी छाबड़ी जिसमें गेहूं की तली हुई या मक्की की मिस्सी रोटियां साफी कपड़े में लपेट कर रखी जाती हैं जिससे इन्हें बाहर की वायु शीघ्र बासी और दूषित नहीं कर सकती है। आजकल के मिनीफ्रिज का यह रूप है।

छडोल्ली : जड़ोल्लू का छोटा रूप थोड़ी खाद्य सामग्री रखने के उपयोग में लाया जाता है।

कंरडोलू-कंडोलू-कंरडोली : इसका उपयोग भटूरू, रोटियां, वसन्ती पूरियां-मक्की की रोटियां रखने के काम आता है। इसके ऊपर हथनी लगी होती है। विवाह आदि उत्सव में तली हुई रोटियां कंरडोलू में डालकर आसपास पड़ौस में बांटी जाती हैं।

भरलू : कंडोलू का सुन्दर रूप कुलुई में विशेष प्रचलित है।

कर्बनी : बांस की बनी छोटी टोकरी आदान-प्रदान के लिए चम्बियाली में कही जाती है।

कतणी : ऊन या रूई की पूणियां रखने के लिए बनायी छोटी टोकरी का व्यवहार विशेषतः चम्बियाली में है।

कंरड़ू-करनू-कंरडी-करनी : बांस का बनाया उपकरण जो विविध शैली में तैयार किया जाता है। कहीं इसके दोनों किनारे और कहीं ऊपर पकड़ने के लिए लचकदार डण्डी लगी होती है। जिस प्रकार आज हैण्डबैग, झोला, थैला उपयोग में लाया जाता है उसी प्रकार कंरड़ू का प्रयोग छोटी मोटी वस्तुएं कपड़े, फल, फूल आदि रखने और ले जाने के लिए होता है। आश्विन मास की संक्रांति के सैर उत्सव पर नाई अपनी कंरडी धूप, दीप, फल, वस्त्र आदि से सजाकर रात्रि को अपने यजमानों के घर जाकर हर्ष और उल्लास से सैर का पूजन कराता है और अपना धन धान्य का भाग ग्रहण करता है।

इस प्रकार दैनिक व्यवहार के उपकरणों में बांस के अनेक उपकरण मिलते हैं। उनके बनाने के लिए कहीं दूर नहीं जाना पड़ता है। जरा अपनी बांस बाड़ी से एक नाल या मगर काटिए और यथाभिलाषित उपकरण बनाकर अपनी आवश्यकता पूर्ण कीजिए। इन उपकरणों का निर्माता डूमणा या डूम कहलाता है। वह अपने सिद्धहस्त से द्राट्टी, कुहाड़ू, बैहलू, आरी आदि तेज धारा वाले शस्त्र लेकर अनेक उपयोगी वस्तुएं निर्मित करता है। इनमें प्रमुख हैं :

सूप-सुपली-छज्ज : बांस के मोटे तन्तुओं से बनाया जाता है। इस पर गोबर का लेप कर दिया जाता है जिससे तिल सरसों जैसी छोटी-छोटी वस्तुओं के दाने छेद से न निकल पाएं। जो सूप दरकण्डा या सरकण्डा की तीलियों से बनाया जाता है उसके नीचे की ओर बीचों बीच में एक फच्चट लगती है वह बांस की होती है। बिना बांस के सूप का निर्माण कठिन है।

हंगी-छाणनी : बांस के सूक्ष्म तन्तुओं से बनायी जाती है जिससे आटा आदि पिसा हुआ द्रव्य छाना जाता है। इससे बूरा या कटीर मटीर अलग हो जाता है।

हांग-केरा-छाणनटू : खुला और मोटे छेद वाला बांस का पात्र दाल, दाने आदि अलग करने के उपयोग में लाया जाता है।

केरनू : छैंटी में बांस के तन्तुओ की योजना इस रूप में होती है कि इसके पतले झरोखों से दाने अलग और पत्थर गिट्टी अलग हो जाते हैं। मक्की, उड़द, रोंग, कुलथ के मोटे दाने अलग होकर तिनके तूली आदि से रहित हो जाते हैं।

पुणारी : अनाज से भूषा तिनका अलग करने के लिए पुनाई का काम बांस के दांतों से सम्पन्न किया जाता है।

पण्याणू पर्णणू-पौणी : दूध घी छानने के लिए उपयोग में लाया जाता है। छानते समय घी की मैल बाल आदि इसमें रुक जाते हैं, और तरल पदार्थ शुद्ध हो जाता है। प्लास्टिक की छलनी का प्रचलन अधिक होने से अब बांस की पौणी का प्रयोग प्रायः समाप्त हो रहा है।

घुणखी : रुई पिंजने के लिए बांस के डण्डों और दांतों से उपकरण बनाया जाता है। खड्डी में अनेक छोटे बड़े बांस के प्रसाधन होते हैं जिनसे दरी, चादर, पट्टू आदि बनाए जाते हैं। बांस के डण्डों की हिल जुल से खड्डी में अद्भुत नाद उत्पन्न होता है।

तूहली-तीहली : बांस की बनायी तीलियां दोने पत्तल आदि बनाने के काम में लायी जाती हैं। इनका बन्धन दृढ़ होता है परन्तु फिर भी भोजन करते समय ध्यान रखना पड़ता है कि कहीं तीहली ग्रास के संयोग से गले में जाकर न फंस जाए।

विवाह में गीत गाली सुनाई जाती है :

लाड़े रा बाब्बा भुक्खा ई चली आई रा।
पत्तल खाइया सणे तूहलिए।

छक्कू-छाबड़ी-पाथ-भयाऊ : माप तोल के लिए बांस के उपकरणों को प्रयोग में लाया जाता है। छक्कू से एक या दो किलोग्राम तक दाने माप लिये जाते हैं। छाबड़ी से इससे अधिक मात्रा में वस्तु आदान प्रदान की जाती है। टोकरा और टोकरी में बीस से चालीस किलोग्राम तक धान या दाने मापे जा सकते हैं। अभी भी इस प्रकार माप तोल में ठीम्बी ८ सेर कच्चे, पथ ४ सेर, भयाऊ या सरीहणू में २ सेर की पुरानी प्रणाली प्रचलित है जो आयकर विभाग द्वारा अवैध घोषित की गई है। आजकल की बोरी बोरू का काम एक टोकरू दाने भरने से पूरा कर देता है।

त्रकड़ी : तराजू और तराजू का डण्डा बांस का बना होता है इसमें तोलने के लिए बांस की छाबड़ी भी रस्सी से बन्धी होती है। यह प्रथा भी अब नाप तोल की प्रणाली में वर्जित है।

गुड़गुड़ू-नरेलू-भभरू : धूम्रपान में भी बांस के उपकरणों का सस्ता साधन उपलब्ध है। हुक्का या कली के साथ बांस की मनचाही लम्बी नड़ी प्रयोग में लाई जाती है। नड़ी का सम्बन्ध नड़ से है और नरेलू का सम्बन्ध नारीयल से है परन्तु प्रयोग में कहीं-कहीं बांस की नली लाई जाती है। छोटा हुक्का नरेलू में बांस की छोटी बढ़िया नड़ी प्रयोग में लाई जाती है। यात्रा में चलते-चलते धूम्रपान व्यसनी को ये बांस के उपकरण आनन्द देते हैं। गद्दियों द्वारा विशेष रूप में इनका प्रयोग किया जाता है। लोकाचार में यहां यह बताना आवश्यक है कि कलू नरेलू कभी जूठे नहीं माने जाते हैं। जूठी मानी जाती है तो नड़ी। इस लिए कई शुद्ध धूम्रपान व्यसनी अपनी नड़ी अलग रखते हैं।

नालू-नलकू-नाली : बांस की खोखली पोरी का प्रयोग रोगी पशु को गले तक औषध पिलाने के प्रयोग में लाया जाता है। पशु के ऊपर नीचे के दान्त खोल कर पकड़ लिए जाते हैं और औषध-पूर्ण नाली गले तक पहुंचा कर तरल पदार्थ पेट में डाला जाता है।

छोतङ्-बम्बा-छरूडू : किन्नरी भाषा में जल प्रपात को छोतङ् कहा जाता है। पर्वत से निकली जल-धारा को दूर तक पहुंचाने के लिए खोखले बांस या बांस के संयोग से दूर तक पानी पहुंचा लो। भरो (प्याऊ) में भी छोटे खोखले बांस का प्रयोग नालू या मोरी के रूप में प्यासे को पानी पिलाने के लिए किया जाता है। मिजो और असमी लोग दूर-दूर से बांस की बनी जल नालियों को पीठ में बांध कर जल से भर कर लाते हैं और छोटी नालियों का प्रयोग गिलास की तरह पानी पीने के लिए करते हैं।

त्रेंड़ा-त्रिक : बांस की फट्टी की बनी चौखट प्याऊ में या घर में घड़े रखने के काम आती है जिस से घड़ा दलदल में नहीं फंसता है।

घड़ौंजी-घड़मंज्जू-चड़ी-चच्चू : बांस की फट्टियों से बने घट-स्थान के विविध नाम हैं। चड़ी का व्यवहार चौपाल में है और चच्चू का व्यवहार कुल्लू में है।

ठीहा : मार्ग में बांस गड़े हुए होते हैं जो सीमांकन भी करते हैं और यात्री को भार टिकाने और आश्रय देने में सहायक होते हैं। कहीं तो बैंच, कुर्सी भी बांस की बनी यात्री के लिए श्रम दूर करने वाली पायी जाती है।

भरो : प्याऊ का निर्माण नाल मगर से और पतली शाखाओं से छाकर किया जाता है। यात्री अपनी थकावट इस रचना को देखकर भूल जाता है। बांस का बना आसन बैंच, कुर्सी, मेज और पानी पीने की बांस की नाली, घड़ों के ऊपर रखे बांस के भीगे पत्ते शीतलता प्रदान करने में सहायक होते हैं।

पिंजरा : बांस की सीखों वाला पिंजरा तोते का मधुर आलाप सुनाता है। इसकी रंग विरंगी सीखें दूर से ही चित को आकर्षित कर लेती हैं।

इस प्रकार बांस से कई उपकरण बनाए जाते हैं जो दैनिक उपयोग से लेकर चिरन्तन उपयोग में आते हैं। यहां तक कि भूमि का माप करना हो तो बांस का मीटर गज काम में लाया जाता है। त्रै नैहणीं ठाहर-तीन बंश परिमित स्थान आदि वाक्य व्यवहार में लाए जाते हैं। बांस के लट्ठों से केबिन तक का निर्माण होता है। विजय का प्रतीक ध्वज भी बांस के डण्डे का सहारा चाहता है। देव यात्रा में बांस के डण्डे में लगी छोटी बड़ी पताकाएं यात्रा का सुन्दर रूप प्रस्तुत करती हैं। बांस के उपकरणों की महिमा का वर्णन यहां कठिन है परन्तु एक प्रसिद्ध उपकरण का वर्णन करना यहां आवश्यक है।

पक्खा-पक्खी-पक्खू-पक्खूआ : घर का ही नहीं समाज का श्रृंगार है। घर में ही नहीं यात्रा में भी साज-सजावट है। गर्मी के दिनों में सबसे पहले आदर का प्रतीक है। क्या बड़ा हो या छोटा हो, धनी हो या निर्धन हो-पक्खा सबको समान रूप से शीतल वायु का संचार कर शान्ति प्रदान करता है। जैसा कि लोक गीत में वर्णन मिलता है :

चूड़ा कढाइए गढ़ राजपुरे।
झोलेयां ठण्डी ठण्डी पौण।

नर नारी की सुन्दरता की झलक प्रदान करने वाले पंखे का वर्णन कितने नैसर्गिक रूप में मिलता है :

इक्की हत्था छतुआ, दूए हत्था पक्खूआ ।

पक्खूआ की पौण जहां पसीना सुखा कर श्रम का परिहार करती है वहां विरही या विरहन के वियोग में सान्त्वना पहुंचाती है। कांगड़ा चित्रकला में अनेक ऐसे सजीव चित्र अंकित किए हैं जहां राधा भी श्रीकृष्ण को पंखा झुलाकर अपने वश में करती प्रतीत होती है। दासी रानी को पंखा डुलाती है । ऐसे प्रसंग महाकवि भूषण की श्लेषमयी कविता में भी मिलते हैं :

बिजन डुलाती थी वो बिजन डुलाती हैं।
तीन बेर खाती थी वो तीन बेर खाती हैं।

हिमाचली विवाह परम्परा में आज भी बहिन सुन्दर सा लिपटा बढ़िया कढ़ाई वाला, घुंगरू झांझर और लाल डोरी वाला पंखा सुखपाल में बैठे भाई को भेंट करती है जिससे सुखपाल में नई आभा आ जाती है । तमोल के समय लाड़ा (वर) को भाभी पंखा झुलाने की रीति निभाती है चाहे माघ की ठण्डी पवन भी क्यों न सबको कंपा रही हो । देवपूजा और आरती में चामर पंखा डुलाया जाता है । पितृपूजा विशेषतः चातुर्वार्षिक श्राद्ध में विष्णु स्वरूपी ब्राह्मण को परिवार के सभी लोग पंखा झुलाते हैं और परिक्रमा लेते हैं । बसोआ (वैशाखी) और निर्जला एकादशी को जलपूर्ण घट के साथ पंखे का दान भी किया जाता है ।

इस प्रकार जन जीवन में बांस के बने पंखे का विशेष योगदान है, मक्खी उड़ाने से लेकर चूल्हे की आग और अंगीठी के कोयले प्रचण्ड करने तक । यहां तक कि भूत प्रेत भी चौरी मूठा पंखा की पौण से तुरन्त भाग जाते हैं ऐसा विश्वास किया जाता है । पंखे का निर्माण विविध आकार प्रकार में किया जाता है जैसे टेढ़ा, चकोर, त्रिकोण, गोल, लम्बा आदि । यदि इस पर कपड़ा न चढ़ाना हो तो हरे, लाल, पीले रंग से विविध चित्रकला का प्रदर्शन इसमें किया होता है। पंखे की महिमा लोक कथा, लोक गीत आदि में जो मिलती है उसका वर्णन यहां विस्तार भय से संगत नहीं है ।

१०. खान-पान :

बांस के अनेक उपकरणों का वर्णन खान-पान के सम्बन्ध में किया जा चुका है। बांस के मूल मान्रू, कली और पत्ते पशुओं का रूचिकर और शक्तिवर्धक भोजन माना गया है।

बांस के करीर का साग बनाया जाता है। यह मूली की तरह खस्ता और कोमल होता है। उदर विकार शूल आदि में बांस के कोमल पत्तों को उबाल कर क्वाथ (काढ़ा) बनाया जाता है।

बांस के पर्व में जो रस होता है उसका पान करने से अधरंग (पक्षाघात) आदि रोग का नाश होता है। ज्वर में भी कभी बांस के पत्तों को उबाल कर रस और अर्क से उपचार किया जाता है।

आचार : आचार बनाने वाले सिद्ध हस्त व्यवसायी कोमल बांस का आचार बनाते हैं। विशेष परिश्रम के कारण यह बहुमूल्य तथा दुर्लभ होता है। शिवालिक घाटी के पास पंजाब में बसे हरियाणा नगर में अभी भी बांस का आचार मिलता है।

वंश लोचन : बांस के भीतर से निकलने वाली छोटी डली की बड़ी महिमा है। यह एक पौष्टिक पदार्थ है। आयुर्वेद में इसके बड़े गुण बतलाए गए हैं जन श्रुति है कि जब स्वाति नक्षत्र की वर्षा की बूंद बांस में पड़ती है तो वंश लोचन बनता है। यह बहुमूल्य पदार्थ औषध के रूप में प्रयोग में लाया जाता है। आयुर्वेद के ग्रंथों में से कविराज भाव मिश्र विरचित भाव प्रकाश में गुडूच्यादि वर्ग प्रकरण से बांस के गुणों का वर्णन दो श्लोकों के उद्धरण से रूचिप्रद होगा :—

वंशस्त्वक्सार कर्मारः त्वचिसारस्तृण ध्वजः।
शतपर्वा शतफलो वेणुमस्करतेजनाः ॥१४४॥
वंशः सरो हिमः स्वादुः कषायो वस्ति शोधनः।
छेदनः कफपित्तघ्नः कुष्ठास्त्रव्रणशोथजित् ॥१४५॥

इसका अभिप्राय है कि बांस की त्वचा छिलका सार है। बांस भीतर से खोखला होता है। यह बड़े काम की वस्तु है। इसकी त्वचा के सेवन से बल बढ़ता है। बांस का घास सबसे लम्बा होता है। यह पताका के समान है। सैकड़ों पोरियां होती हैं। जौ जैसा फल इसमें लगता है। इसकी पाटी पर क्षुर आदि शस्त्र तेज किए जाते हैं। वंशी की मधुर ध्वनि का कारण भी यही है।

बांस अपने गुण में ठण्डा, मीठा, तीखा, वस्ति शोधन करने से उदर पीड़ा दूर करने वाला, कफ पित्त का नाश करने वाला, कोढ़, रक्त विकार, घाव चोट और शोथ (सूजन) का नाश करने वाला होता है। इस प्रकार आयुर्वेद शास्त्र में बांस के गुणों का वर्णन मिलता है।

११. शत्रु वर्ग :

चाहे कोई कितना ही बड़ा लम्बा चौड़ा बने और सबको अपनी छत्रछाया में लेकर उपकार शील हो परन्तु उसके भी मित्र और शत्रु इस संसार में मिलेंगे। बांस भी यहां शत्रुओं से मुक्त नहीं है। इसके मूल में दीमक लग जाती है। वामी में सांप अपना घर बना लेते हैं। संघने बांस की ओट में गीदड़, मृग छुपे रहते हैं। चूहे दूर तक भोर बनते हैं और बांस के बीजों का संग्रह करते हैं। सेही और गिलहरी इसके मूल को खुरद-खुरद कर खोखला बना देती है। बांस मुड़ना आरम्भ हो जाता है। बकरियां छेल्लू बांस के नये पुरोहों को चर लेती हैं। डंगर ढोर मूल मान्नू पर खाने के लिए झपटते हैं। सफेदा एक कीड़ा जिसे हिमाचली में भरोट्टू कहते हैं जिसे मण्डियाली में भरो कहा जाता है चौपाल में 'ढिणकी' नाम दिया जाता है, यह बांस के लम्बे पत्तें को लपेट कर अपना घर बना लेता है। यदि इसे पशु खा जाए तो वह तड़पता बिलखता रहता है। बांस के शिखर ध्वज पर चमगादड़ और कौए निर्भय होकर आवास करते हैं। अन्त में बांस या तो जीर्ण शीर्ण हो जाता है या कुल्हाड़ी वाला मानस इसका संहार कर डालता है।

१२. उपचार :

जहां विपत्ति होती है वहां सम्पति भी होती है। शत्रुओं से बांस की रक्षा करने के लिए पहरा लगाया जाता है। बाड़ दी जाती है। धूप में या कहीं इकट्ठे बांस रखे हों तो इन्हें घुण लग जाता है। इन्हें किसी जलाशय में डुबो दिया जाता है जिस से दीमक, घुण आदि वेधक शत्रुओं और फफुन्दों से इनकी रक्षा की जाती है। आधुनिक रसायन प्रक्रिया में काटे बांसों को दो या

तीन दिन तक किसी जलाशय में डुबो दिया जाता है और फिर इन्हें जिंक-क्लोराइड से उपचारित किया जाता है। रस्यालू (रसोई घर) में छत पर रखे बांस को दीमक, घुण आदि नहीं लगते, क्योंकि धुएं के संचार से ये अपना घर बार नहीं जमा सकते हैं। अब तो बांस पर रंग रोगन होने लगा है जिस की गन्ध से कीड़े दूर भाग जाते हैं।

१३. उत्सव :

देव भूमि हिमाचल प्रदेश देवी देवताओं की पूजा, यात्रा, व्रत, उत्सव मनाने में अग्रणी है। मानो प्रकृति ही इन उत्सवों का आयोजन करती है। वृक्ष भी अपना उत्सव मनाते हैं। बांस भी क्यों पीछे रह सकते हैं। इनका भी उत्सव है :

मग्गर मनीखियां : फाल्गुन मास का नामकरण भी मग्गर मनीखियां से है। फाल्गुन के १८ प्रविष्ठे से २५ प्रविष्ठे तक अष्टक मनाया जाता है। इन दिनों बांस पूर्णतः पक्की अवस्था में होते हैं। मधु ऋतु के समागम पर बांसों का समुदाय लहराता, झुकता, कल्लोल करता एसे प्रतीत होता है कि मानो प्रकृति को देख-देख कर नाच रहा हो। एक दूसरे से इनका टकराव अद्भुत नाद प्रस्तुत करता है। वायु वेग के संघर्ष में जो बांस अपने समुदाय से अलग हो जाता है उसका शिखर ध्वज धराशायी हो जाता है मानो भूमि-वन्दना कर रहा हो। महाकवि कालिदास के प्रकृति वर्णन में पवन वेग से लड़खड़ाते हुए, सांय-सांय करते हुए कीचक (बांसों) के मधुर नाद का वर्णन अपनी सुन्दर कृति मेघदूत में इस प्रकार करता है :

शब्दान्ते मधुरमनिलैः कीचका पूर्यमाणाः संरक्ताभिस्त्रपुर विजयो गीयते किन्नरीभिः।
निह्रादस्ते मुरज इव चेत् कन्दरेषु ध्वनि स्यात् संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः ॥

(पूर्व मेघ ६०)

इस प्रकार अनेक कवियों ने वंश उत्सव में अपनी लालित्य कला का दर्शन कराया है।

किन्नर प्रदेश के वर्णन में महाकवि कालिदास का यह सुन्दर श्लोक डॉ० वंशीराम जी शर्मा ने अपने प्रकाशित शोध प्रबन्ध 'किन्नर लोक साहित्य' (ललित प्रकाशन, लैहड़ी) १९७६, पृष्ठ १५ में किन्नर प्रशंसा में उद्धृत किया है परन्तु किन्नर लोक गाथाओं और गीतों में बांस का वर्णन उपलब्ध नहीं है। कारण हो सकता है कि इतनी ऊंचाई पर बांस नहीं होते हैं।

१४. आमोद प्रमोद :

बांस अपना उत्सव आप ही नहीं मनाते अपितु अन्य उत्सव आमोद प्रमोद में अपना प्रमुख योगदान देते हैं। आमोद प्रमोद के लिए जो भी रंगमंच या उसकी साज सज्जा हो सब बांस से ही परिष्कृत होती है। नाची नाटी में भी बांस का प्रयोग होता है। गतका, सोठी और अन्य क्रीड़ाएं बांस के सहारे दिखलाई जाती हैं। इन खेलों में ऐसा प्रतीत होता है कि मानो बांस नाच रहा हो और गा रहा हो। मदारी के खेल में बांस का डण्डा ही बन्दर और रीछ को तरह-तरह से नचाता है। जादूगर बांस की बनी सांप की पटारी से सांप निकाल कर उनकी फुंकार सुनाता है। सुषिर वाद्यों में बांस का विशेष स्थान है। जिनमें प्रमुख है –वंशी-वादन। एक ओर चम्बा में गद्दी और दूसरी ओर सिरमौर में चरवाहा अपने पशुधन की रक्षा करता इतना मनोहर वंशी वादन

करता है जो पर्वत की कन्दराओं में गूंजता हुआ दूर-दूर तक पथिक के चित्त को हर लेता है। वंशी वेणु के लिए प्रमुख शब्द है :

बसरी-बंसी-बौंशी-बंशुड़ी-बैंसो : यह खोखले और पतले बांस की डण्डी से बनाई जाती है। कई प्रकार से इसे बजाया जाता है। प्रायः नींचे के होंठ पर रख कर थोड़ी आड़ी सी कर फूंक मार कर इसे बजाया जाता है। फूंक इसके सिरे के छेद में मारी जाती है। इस छेद को फूकणी या फूक्को कहते हैं। बंसी में तीन से लेकर नौ तक छेद होते हैं। इन्हें सुर या सुरती कहते हैं। छेद पर अंगुलियां रख कर बजाना सुर काढना कहा जाता है। इस सुर का आनन्द ग्वाल बाल से लेकर युवा वर्ग तक धूम मचा कर लेते हैं।

बिशड़ी-बांशली-बांशल्ले : सिरमौरी में बांशली और महासुई में बांशले का व्यवहार है।

बिइली-बैंसंरी : कुलुई में इन शब्दों का व्यवहार है

शुंढली : बंशी के साथ शुंढली शब्द का व्यवहार चम्बियाली में है।

गणगोज्जू-अलगोजा-लगोजू : इसकी बनावट भी बंसी की भांति होती है इसमें तिरछापन नहीं होता है। सिरे पर छेद में डाट लगायी होता है। जिससे दो सुर निकलते हैं। इसकी डाट के दो भागों को जीभली या जीभी कहते हैं। इसमें सांस धीरे-धीरे छोड़ा जाता है। एक साथ दो गणगोज्जे भी झूम-झूम कर बजाए जाते हैं।

धैंतड़ू-भम्पलू-भम्पला-नढ्ढू : बांस का लम्बा वाद्य बनाया होता है जो पीतल के वाद्य की भान्ति होता है। इससे ऊंची ध्वनि निकलती है। कुलूई में इसे नढ्ढू कहते हैं।

डण्डू : बांस का पतला सुघड़ डण्डा जो नगाड़ा, डफली आदि बजाने के काम आता है।

इस प्रकार संगीत वाद्य शास्त्र कला में बांस का योगदान है ही परन्तु शस्त्र के अभ्यास तथा क्रीड़ा में मनोरंजन में भी बांस की देन प्रमुख है। अनेक शस्त्रों में किसी न किसी रूप में बांस का प्रयोग होता है।

धनुष-बाण : धनुष और बाण का निर्माण लचकदार बांस की शाखा से किया जाता है। बच्चे छोटे-छोटे बांस के धनुष बाण बनाकर रामलीला में अभिनय करते हैं।

डण्ड-कील्ली : गुल्ली डण्डा के खेल में लपकते हुए बांस के डण्डे से गुल्ली दूर तक पहुंचायी जाती है।

हाकी : जो दालक २५ या ५० रु० की हाकी न ले सके वे बांस की जड़ और डण्डा जो हाकी की भान्ति मुड़ा हुआ होता है उसका प्रयोग हाकी मैच रचा कर करते हैं।

ध्यो-ढेऊ-धरेसू : बांस के डण्डे के आगे घास की पूली या कपड़ा मिट्टी के तेल में भिगोकर बांधा जाता है। जो देर तक मशाल की तरह जलता रहता है। दीपमाला के उत्सव पर बच्चे और नवयुवक अग्नि क्रीड़ा में ध्यो को चक्र के आकार में घुमाते हैं। इसे ध्यो सलाणा कहा जाता है। सब मिलकर हर्ष में ध्यो दयालीए ध्यों दयालीए का उद्घोष करते हैं। ऊना में इसे ढेऊं कहते हैं। मिजो और असमी लोग बांस के टुकड़ों में रूई रगड़ कर आग निकालते हैं।

वेद-वेदी : आमोद प्रमोद के साधन जुटाने में तरखान का विशेष योगदान होता है। वह विवाह में वेदी की साज सज्जा में ऊंचे ऊंचे बांस लगाकर राग रंग भर देता है। इनके ऊपर काठ के रंग-रंगीले तोते मोर आदि पक्षियों की आकृतियों से विवाह मण्डप में प्रमोद की सुन्दर स्थली बन जाती है।

तोरण : किसी भी शुभ कार्य और उत्सव में तोरण का प्रमुख स्थान है। सबसे पहले तोरण की वन्दना होती है जो बांस के लाल पीले डण्डे से सजा होता है और जिसके चारों ओर आम के पते और फूल लगे होते हैं। लाल डोरियों से भांभर बनी हुई होती है। साधारण तोरण को पत्र तोरण कहते हैं। घर के अन्दर भिति तोरण चित्रकला से शोभित होते हैं।

सूखे बांस के मूल और जड़ों में रंग भर कर मानव पशु पक्षी आदि की आकृति बनायी जाती है। जिसे सजावट के लिए किसी कोने में गाड़ दिया जाता है।

ढोलणा : हिंडोले बहुधा बांस के बनाए जाते हैं जो बांस के ऊंचे स्तम्भों का आश्रय लेकर ऊंची उड़ान भर लाते हैं। चम्बा में मिंजर मेला सुजानपुर और घुग्गर पालमपुर में होली मेला तथा अन्य स्थानों पर आमोद-प्रमोद के लिए हिंडोले सुन्दर ढंग से बनाए जाते हैं। हाथी, घोड़ा, मोर आदि आकार के चक्र बालकों को घुमाने-झुलाने के लिए लम्बे बांस के डण्डे पर लटकाए जाते हैं।

डोला-झात्ती-झांकी : रथ यात्रा के साधन बांस के संयोग से बनाए जाते हैं। राम राज्य तिलक दशहरा के अवसर पर बांस के सहारे ऊंचे सिंहासन बनाए जाते हैं जिन पर श्रीराम पंचायतन की पूजा और दर्शन किए जाते हैं।

गूग्गा मौली-छतरी : लाल या श्वेत डोरियों से सजाकर बांस का बनाया छत्र टौरी के चौड़े पत्तों से ढका हुआ लम्बे बांस के डण्डे का सहारा लेकर ऊपर उठाया जाता है। इसके चारों ओर ढोल-ढमाक्के से गूग्गा के गीत गाते और नाचते लोग हर्ष और उल्लास प्रकट करते हैं। गूग्गा नौमी को विशेष पूजन होता है। चेला लोहे की सांकली संगल मारकर मानो भूत का अपसरण करता हो।

फचकारी-पचकारी : खोखले पतले बांस की बनी पिचकारी राग रंग की दूर तक मार करती है। होली के अवसर पर पिचकारी में रंग भर कर उसकी वर्षा की जाती है।

कलम-कूच्ची : भित्ति चित्रों में या कला चित्रों में बांस की पतली कूची सजीव रंग भरती है। कांगड़ा चित्र कला में चितेरा के हाथ में कलम कूची की महिमा का बड़ा गुण गान है।

जखलू-मखलू : कुल देवताओं के आकार छोटे-छोटे बांस के रंगीन खण्डों से बनाए जाते हैं जिनका पूजन वन्दना पुष्प, अक्षत, धूप दीप आदि से किया जाता है तथा दूध दही से स्नान कराया जाता है इस प्रकार आनन्द मंगल के कार्यों में बांस का प्रयोग विवध रूप में किया जाता है।

१५. उपहास :

बांस के उपकरण जहां दैनिक व्यवहार में उपयोगी हैं वहां इनका नाम मात्र भी हास परिहास जुटाने में सक्षम है। मानव शरीर के अवयवों की रचना देखकर उपमा में बांस के उपकरणों की समता इस प्रकार की जाती है :

पेड़ू-ढालठा-कोठड़-पीछड़ी : अन्न के भण्डार भरने वाले बांस के उपकरण की समानता में भोजन भट्ट मोटे ताजे व्यक्ति को पेड़ू की संज्ञा देकर हंसी उड़ाई जाती है।

डांग-लम्मण-टम्मण : लम्बी पतली नारी को परोक्ष में डांग या टम्मण कह कर उपहास किया जाता है।

खुण्ड-खुरली-ठुण्ड : हठ धर्मी व्यक्ति जो अपनी मन-मानी करे और प्रत्यक्ष प्रमाण देने पर भी न माने और मैं न मानूं ही कहे उसे खुण्ड कह कर चुप्पी साधनी पड़ती है।

गोहे दा टोकरू : मूढ बुद्धि को लाख समझाओ पर फिर भी गोबर गणेश बना रहे तो उसे गोहे दा टोकरू कह कर उपहास किया जाता है।

भैम्पला-भूंकणा-पीपणी : जो तनिक बात न पचाकर इधर-उधर जोर से बोल कर ढिण्ढोरा पीटे उसे भैम्पला कहते हैं। बड़े ऊंचे बोलने वाले व्यक्ति को भी भैम्पला या भैम्पली संघा (कण्ठ) कहकर पुकारा जाता है।

जींहड़ा-त्रहड़ा : जिस व्यक्ति पर संकट पड़ने से ज़रा भी आंच न आये और वह तटस्थ रहे उसे बांस के मूल जड़ की भांति पक्का जींहड़ा कहा जाता है।

जबरा-जींहड़ा : बांस के मूल जड़ की भान्ति जो दृढ़ हृष्ट-पुष्ट रहकर वृद्धावस्था में भी हार नहीं खाता है उसका जबरा जींहडा अभी नहीं सिधारता कह कर उपहास किया जाता है।

बौंहकरू-झौंखरा : बांस के झाड़ू की सफाई की भांति जो अपने पूर्वजों की अर्जित सम्पति को घर से बटोर कर अपव्यय करे उसे बौंहकरू या झौंखरा कहकर समाज में हंसी का पात्र बनाया जाता है।

छक्कू-टोपू : बांस की बनी छोटी गोल टोकरी की भांति जिसका सिर हो उस पर अंगुलिपर्वों से टक की जाती है और उपहास में गाना भी गाया जाता है जैसा कि रली के गीत गाते समय बालाएं अपनी सखी के सिर पर छक्कू मारती है :

नच्च कुडे नचोड़ी नच्चे केसर दी कटोरी।
नच्चे बाबुल तेरा आया से लड्डू पेड़े लाया .....।
कोरा कोरा नी रंगीन छक्कू ... ... ।

१६. शकुन विचार :

बांस को दैनिक कृत्यों में शुभ और अशुभ दोनों रूप में माना जाता है। जिस मां का बच्चा जीवित न रहता हो वह अपने नवजात शिशु को बरड़ी के बांस के बने छज्ज में डाल देती है। बरड़ी मां बन जाती है। उसके पास भूत नहीं आता है वह बच्चा 'ओपरे रे परछण्डे' भूत रोग से बच जाता है। घर से यात्रा करते समय कोई बांस ले जाता हुआ मिल जाए तो अपशकुन माना जाता है सामने काल ग्रह की दृष्टि लगती है।

भद्रा : बांस काटते समय ज्योतिषी का परामर्श लेना पड़ता है। पंचाग में तिथि देखनी पड़ती है कि कहीं भद्रा तो नहीं लगी है। भद्रा युक्त तिथि में बांस को लोहा नहीं दिखाया जाता है, क्योंकि चन्द्र संचार ग्रह संचार ठीक न होने पर बांस सूख जाता है।

पंचक-पंजक : बांस को महीने में पांच दिन नहीं काटा जाता है। पंचाग में सत्ताइस नक्षत्र देखने पड़ते है उनमें धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा और रेवती नक्षत्रों में पंचक आ जाए तो बांस काटना पाप समझा जाता है।

सुआर-सोमवार : शीतांशु चन्द्रमा का वार होने से शीतल पवन देने वाले हरे भरे बांस से लोहे का स्पर्श नहीं किया जाता है। शाखा, पत्ते हाथों से या टम्मण से तोड़ कर पशुओं को आहार दिया जाता है।

इस प्रकार शकुन विचार में यदि कोई मर्यादा का उल्लंघन करे तो उसकी गति गाली-गलोच और डण्डे की पिटाई से की जाती है। यहां तक कि भूत प्रेत की मर्यादा भी बांस के डण्डे से सीमित की जाती है।

कील्ला : जिस भाग में भूत का कोप प्रतीत हो, पशुओं को रोग लग जाय, दूध देना बन्द कर दें और बहक जायें तो वहां चेला आकर धूनी-धागा करता है और बांस का कील्ला गाड़ देता है और पूर्णत. आश्वासन देकर जाता है कि अब कील्ला ठोक दिया है कोई चुड़ैल, भूत, प्रेत न तो यहां आयेंगे और न ही कोई बाधा पहुंचायेंगे।

१७. लोकोक्तियां :

लोकोक्तियों में भी बांस ने अपने उपकरणों सहित अपना अच्छा स्थान जमाया है। बंसरी से सम्बन्धित अनेक प्रसंग हैं। मनोविनोद में लोकोक्तियां बांस के प्रसंग में आती हैं :

सत्तां दी लाट्ठी इक्की दा बोझ : बांस को लाठियों की उपमा देकर संयुक्त परिवार में पारस्परिक सहयोग और सद्भाव लाने के लिए इस लोकोक्ति का प्रयोग किया जाता है।

चोरां दे कपड़े डांगां दे गज : बांस की लाठी चोरों को कुत्ते भगाने और बाद में लूट पाट के कपड़े नापने के काम आती है। चोरों को गज या मीटर तो तुरन्त मिलते नहीं हैं पर बांस की लाठी से हिसाब किताब रखा जाता है। लूट खसूट और धान्धली बतलाने के लिए इस लोकोक्ति का व्यवहार है।

जीन्देआं जो डांगां मोयां जो बांगां : कुछ लोग ऐसे होते हैं जो जीते जागते की सेवा लाठी से करते हैं पर जब वह मर जाए तो हाय-हाय से बांग देना आरम्भ करते हैं। बूढ़े, विकल और दुर्बल नर पर तरस खा कर इस लोकोक्ति का व्यवहार किया जाता है कि जीते जी तो पूछते नहीं पर मरने पर गुणगान करते हैं और ऊंचे स्वर से रूदन और क्रन्दन करते हैं।

चढ़दियां घाटियां से मरे, जंघां जिस दिया नी त्राण।
डूमणे दा क्या चूमणा, चूक्या द्राहट्टू जाई रेआ पठयार। :

यहां बांस के उपकरण निर्माता डूमने की कला में स्वतन्त्रता का वर्णन उसके द्राहट्टू की महिमा कांट-छांट के लिए की गई है। स्वतन्त्रता हो तो ऐसी हो जहां जैसी आवश्यकता होती है डूमणा बांस की कांट-छांट से मार्ग प्रशस्त कर लेता है और लोग तो पर्वतारोहण में अपनी टांगों की रक्षा के लिए विचार करते रहते हैं। अभिप्राय यह है कि अपना साधन आप जुटाना चाहिए।

जींहड़ा पुटणा-जींहड़ा बढणा : बांस की जड़ बड़ी विशाल, संगठित और गहरी होती है। यदि इसका नाश कर दिया जाए तो बांस का नाश सदा के लिए हो जाता है। इसी प्रकार वैर विरोध पड़ जाय तो कुल नाश के लिए कुल पालक या मुखिया पर वार किया है।

महासुई में कहा जाता है कि एक ओर बांस बावल (घास) काटना और दूसरी ओर अपनी आस औलाद (सन्तति) को देखना पड़ता है। गंगाजली सिर पर धारण करना, गीता की शपथ लेना आदि की भान्ति घर बाहर दंगे में बांस काटने के लिए संकेत यह कह कर किया जाता है :

बांस बावलू काटण पर आस पास औंलाद बी देखण।

जिन्हां बैंभां उकलणा तिन्हां दे ढेरे माम्नू पौंणे : जो वंश समुदाय नाशाभिमुख होता है उसके अंकुर टेढ़े होने आरम्भ हो जाते हैं। इस लोकोक्ति का रूप में बहु प्रचलित है – विनाशकाले विपरीतबुद्धि।

जिन्हां दे पेड़ुआं दाणे तिन्हां दे जल्हे बी स्याणे : बांस के बने भण्डार में जिनके दाने हों उनके घर मूर्ख और साधारण भी मेधावी और चतुर माने जाते हैं –सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति।

१८. प्रहेलिका :

हिमाचली में उभ्भू बूभ्भू जैसी बुझारतों में बांस का रोचक वर्णन मिलता है। स्थान भेद के कारण अनेक पहेलियां अपने-अपने रूप में हैं जैसे पालकी का कितना सुन्दर वर्णन बांस के आगली और लटरू-मटरू के प्रसंग में मिलता है :

चार सोट्टे चार सुर्मेदाणियाँ, कैलास तोत्ता बोलदा कल्ल फ़ौज्जां आणियाँ।

बांस और बांस के उपकरणों से सम्बन्धित अनेक पहेलियां हैं जिन का वर्णन यहां विस्तार से नहीं किया जा सकता है परन्तु फिर भी डॉ० कांशीराम अत्रेय के रोचक शोध ग्रन्थ 'हिमाचली लोक मञ्जूषा' (शान्ति प्रकाशन, टिहरा, मण्डी, १९८१) से पहेली संग्रह से कुछ उद्धरण लेना बांस की महिमा बढ़ाने में सहायक होगा :

१. आगे जम्मेआ पुत्र पीच्छे जम्मी माओ। (बांस का नालू, पहेली ५३)
२. घर पर घर पर दरवाजा एक भी नहीं। (बांस, पहेली २४४)
३. मुठा पर मुठ मेरी फोहलणी बुझ, नहीं तां इत्था ते उठ। (बांस की गांठ, पहेली ५७६)
४. सौ ओबरी द्वार एक भी नी। (बांस की नाल, पहेली ६१५)

उपसंहार :

इस प्रकार हिमाचल के विद्वानों, कवियों, लेखकों तथा लोक साहित्य, कथा, गीत के रसिकों ने यत्र तत्र बांस के वर्णन से प्रदेश के साहित्य को समृद्ध किया है। अभी और भी आशा है कि बांस और बांस के उपकरण इनके नाम धाम प्रदेश के कोने-कोने से संगृहीत कर हिमाचली ज्ञानकोष में एक प्रमुख स्थान पायेंगे। इसमें प्रदेश के शोध-कर्त्ता तथा लोक-साहित्य के मर्मज्ञों के योगदान की परम आवश्यकता है।

बांस की महिमा बड़ी है। इसे चाहे जितना काटो पर यह वंशलोचन प्रदान करने के साथ-साथ अपना मधुर स्वर अलापता रहेगा। संस्कृत भाषा की सूक्ति में इसका वर्णन कितना सहज और सुन्दर है कि तेज धार वाले शस्त्र से बांस काटा जाता है फिर इसमें नौ और सात प्रकार से सुराख किये जाते हैं फिर भी बांस कभी अपशब्द नहीं निकालता है। बंसी में ध्वनि जितनी मधुर चाहो बजाओ और सुनाओ :

छिन्नः सनिशितैः शस्त्रैः विद्धश्च नव सप्तधा।
तथापि हि सुवंशेन विरसं नापजल्पितम्॥

और भी मुरली की महिमा सुनिए :

मुरली महनीय वंशजाता मुहुरा क्रन्दमन्द मातनोति।

संस्कृत में ही क्यों हिमाचली लोक साहित्य में मोहण की बंसी की याद किसे भाव विह्वल नहीं करती है। जब तान मधुर सुर में छेड़ी जाती है इन पंक्तियों में :

किनैं बजणी, ओ मोहणा, किनैं बजणी,
तेरी सत बन्द बंसरी किनैं बजणी।

मोहण बलिदान के पथ पर जा रहा है पर उसकी सत बन्द बसरी बांस की खूंटी में झूल रही है :

किलिया झूरदी ओ मोहणा, किलिया झूरदी,
तेरी सत बन्द बंसरी किलिया झूरदी।

यह बांसुरी कहां नहीं बजती है, पर्वत के ऊंचे शिखर से लेकर नीचे नदी की घाटी तक इसकी मनोहर ध्वनि सब को आकर्षित करती है जैसा कि ओजपूर्ण लोक-गीत महासुई में है :

नालों घाटो दी बांशली बाजी,
धारा धारा पा बिनू।

राजकीय उच्च विद्यालय,
ऊना (हिमाचल प्रदेश)।

●★●

हिमाचल की संस्कृति और हमारा दायित्व

—मनोरमा शर्मा

संस्कृति एक ऐसा कोष है जिसके बिना मानव का मूल्य शून्य सा रह जाता है। लुटा धन फिर आ सकता है परन्तु लुप्त संस्कृति को फिर से अर्जित करना सुगम नहीं। संस्कृति किसी एक व्यक्ति की धरोहर नहीं, यह तो समूचे समाज का सांझा खजाना है जिस पर सब को समान गर्व है, सब का समान अधिकार है और उसकी रक्षा करने तथा उसे समृद्ध बनाने का सब का समान दायित्व है। वास्तव में अपनी संस्कृति से हीन समाज, पानी के बिना तालाब, प्रवाह के बिना नदी, पत्तों के बिना तरु, हरियाली से रहित भूमि, बत्ती और तेल के बिना दीपक, गन्ध के बिना फूल, चमक के बिना धातु, गति के बिना वाहन, प्राण बिना देही, आतप बिना सूरज, चन्द्रिका बिना चान्द तथा निर्वसना नारी के समान है। संस्कृति विहीन समाज एक धौंकनी के समान है जो सांस लेती हुई भी जीवित नहीं है। धन के बिना जीवन बिताना कठिन नहीं परन्तु अपनी संस्कृति के बिना अपना अस्तित्व कायम रखना ही सम्भव नहीं है। जिस समाज की अपनी संस्कृति ही जीवित नहीं वह स्वयं जीवित कैसे रह सकता है। वह तो मृतप्राय ही है। इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण जी ने श्रीमद्भगवतगीता में कहा है :

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।'

यहां धर्म शब्द से अभिप्राय संस्कृति से ही है।

भारत की समग्र प्राचीन संस्कृति को हम हिमाचल के अंचल में पूर्ण रूप से सजीव पाते हैं। यहां के न केवल गीतकारों के गीतों में अपितु ग्वालों और गद्दियों की झोंपड़ियों में भी हमारी संस्कृति निहित है। यहां का प्रत्येक लोक-गीत, प्रत्येक लोक-कथा, प्रत्येक बुझारत या कहावत किसी न किसी रूप में अपने में भारतीय संस्कृति को संजोए हुए है। यहां के नृत्यकारों के पदताल में, नारी के गिद्धा में तथा बंसुरी की धुन में कलाकार के मूक चित्र में संस्कृति का रहस्य छिपा हुआ है।

यहां के लोक-गीतों में जहां हास्य विनोद की अपूर्व छटा मिलती है वहां इन्हीं लोक-गीतों में करुणा की पावन धारा भी मनुष्य के मन का मन्थन करती है। कई बार एक ही प्रसंग में हास्य एवं करुणा का अद्‌भुत मिश्रण देखने को मिलता है। यहां की वैवाहिक संस्कृति बेजोड़ है। ज्यों ही कन्या विवाह के योग्य हो जाती है। माता-पिता उसके लिए वर की खोज में व्यस्त हो जाते हैं। वर मिलने पर कन्या के विवाह का शुभ दिन निश्चित कर दिया जाता है और तभी से कन्या के सुहाग (सौभाग्य) के लिए विविध प्रकार के गीत प्रारम्भ हो जाते हैं। इन गीतों में बराबर करुणा का समावेश रहता है क्योंकि जिस घर में कन्या का जन्म हुआ, पन्द्रह-बीस वर्ष तक उसने माता-पिता का प्यार पाया, जिस घर की सेवा-सुश्रूषा की, अब उस घर को छोड़ कर वह किसी दूसरे कुल में पदार्पण करने जा रही है और पितृ-कुल के सदस्य उसके भावी वियोग की कल्पना में एक वेदना का भार वहन करते हुए अपना समय बिताते हैं। कन्याएं माता-पिता के

घर में जी-जान से जुट कर काम करती हैं, उनकी आज्ञा का कभी उलंघन नहीं करती हैं। पुत्रों की अपेक्षा कई गुणा अधिक माता-पिता से प्यार करती हैं। इसलिए उसके वियोग की पीड़ा उनके लिए असह्य जैसी हो जाती है परन्तु भारतीय संस्कृति में कन्या तो पराया धन है। उसने तो एक दिन जाना ही जाना है। अतः इस विवशता के आगे किसी का चारा ही क्या है।

जिस दिन कन्या जन्मी आई, माता-पिता सिर चिन्ता छाई।
पुत्री ममतां बहुत सताए, पर धन समझत मन भरमाए।

पुत्री सुहाग मांगने के लिए पिता के पास जाती है तो पिता कहता है –"हे पुत्री! हम तो तेरे हाथों में मैंहदी और सिर में डोरी ही लगाने वाले हैं। सौभाग्य तो तुझे भगवान राम ही देंगे।" कितनी आस्था है भगवाम राम में कन्या के पिता की। बात भी सत्य है। हम कौन होते हैं किसी के भाग्य को बनाने और बिगाड़ने वाले। कितना मार्मिक चित्रण है पिता के प्यार का निम्न लोक-गीत में :

बेटी सुहाग मांगण बौए दें गई ए।
बेटिए हाथ मैंहदी सीस डोरी सुहाग तैंनू राम देवेगा।

हिन्दी रूपान्तर :

पुत्री सुहाग के लिए जाए जनक के पास।
हे पिता! सौभाग्य दो पूरी हमरी हों आस।
पिता बोले सुन लाडली मैंहदी तेरे हाथ।
सिर डोरी तेरे लगी जाना पति के साथ।
सुहाग तो भगवान ही दें पुत्री वरदान।
कर जोड़े हम बेनती करते हैं नादान।

इस प्रकार एक अन्य लोक-गीत में पुत्री जब विवाह के योग्य हो गई और वह अपने पिता से प्रार्थना करती है कि मेरे लिए अच्छा घर और वर ढूंढने का प्रयत्न कीजिए जिस से मैं अपना जीवन सुख से बिता सकूं, तो पिता कहता है कि "हे पुत्री! हम तेरे लिए घर और वर तो अच्छा ढूंढने का ही प्रयत्न करेंगे परन्तु किस्मत तो तेरी अपनी ही होगी। इसको तो खोजा नहीं जा सकता है और न ही बदला जा सकता है।"

ऋषियां दे घर कन्या जनमी घर–वर टोलण जाणा वे राम।
घर भी टोल्या वर भी टोल्या किस्मत टोली न जांदी राम।

हिन्दी रूपान्तर :

घर–वर ढूंढो हे पिता हो सब ही अनुकूल।
सुखी जीवन मेरा रहे न हो कुछ प्रतिकूल।
ढूंढेंगे घर–वर तुझे कर के यत्न अपार।
पर किस्मत में जो लिखा कोई न टालणहार।

ईश्वर पर कितना दृढ़ विश्वास और भाग्यवादिता इन लोक-गीतों में पाई जाती है।

दूसरी ओर वर पक्ष में इससे बिल्कुल विपरीत विचित्र स्थिति पाई जाती है। जिस दिन

कन्या पक्ष से विवाह की चिट्ठी वर पक्ष को मिलती है उसी दिन से उस घर में विनोद की झड़ी लग जाती है। नई बहू घर में आएगी। घर का सितारा चमकेगा। वर की बहनों की प्रसन्नता का तो कोई पारावार ही दिखाई नहीं देता है। भावज की कल्पना में उड़ती ही चली जाती है। वे भाभी को साड़ी पहनाएंगी, गोटे से झिलमिल करती चुनरी ओढ़ाएंगी। वे नाचेंगी, खूब नाचेंगी। ताल से नाचेंगी, डमरू के साथ नाचेंगी, घुंघरू बांध कर नाचेंगी। नटराज के नृत्य को मात देंगी। इसी प्रकार बुआ भी अपनी कल्पना में उड़ान लेती है परन्तु जब बहनें घर पर हों तो बुआ का पद गौण हो जाता है और इसकी झेंप उसके मन पर स्पष्ट लक्षित होती है। विवाह में जहां बहनें हर्ष से चारों ओर दौड़ती फिरती हैं वहां बुआ रानी को तो किचन की सम्भाल करनी पड़ती है :

बहनें अब हैं दौड़ती घर के चारों ओर।
बुआ मन मसोसती बैठ किचन के छोर।

ज्यों-ज्यों विवाह का दिन निकट आता है वर के घर में उत्साह और उल्लास का सागर ठाठें मारने लगता है। ऐसे लगता है मानो सारे ब्रह्माण्ड का का हर्ष एक ही घर में पुंजीभूत हो गया है। आखिर बाजे बजने लगते हैं और ललनाओं के पैर भी साथ ही साथ थिरकने लगते हैं कि कब बारात आए और हम अपनी चिर साध को पूरा करें। वर के सिर सेहरा चढ़ता है। बहनें आस-पास खड़ी घोड़ी गाती हैं और भैया को उपदेश भी देती हैं :

सालियों से सावधान रहना भाई भरपूर।
छन्द बुलाएं वह अगर बोलो एक जरूर।
पर कड़वा न बोलना बोलो शहद समान।
मीठा मीठा घोल दो बढ़े स्वकुल सम्मान।

भावज अंजन करती हुई बोलती है :

बहु का मुखड़ा देखना पूर्ण दृष्टि के साथ।
धीरे से फिर मुद्रिका करना उसके हाथ।

बारात चली जाती है। कुमारियां और नारियां दिल खोल कर नाचती हैं। फिर दूसरे ही दिन बहू रानी आ जाती है और स्त्रियां गाती हैं :

आ मेरिए बहुए ऐह घर तेरा।
ऐह घर तेरा सभी कुछ तेरा।

हिन्दी रूपान्तर :

बहु रानी आओ यहां हम तुम्हारे साथ।
घर में जो कुछ है धरा सब तुम्हारे हाथ।

बात भी सत्य है। एक नया जीव नये संसार में आ रहा है, नये घर में प्रवेश पा रहा है। वह नवागन्तुक है। वह शरणागत है। यदि उससे इस प्रकार की आत्मीयता प्रकट न की जायेगी तो उसके मन पर क्या बीतेगी ? शरणागत से प्यार करना भारतीय सभ्यता का परम पुनीत अंग है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिमाचल में भारतीय संस्कृति के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। इसकी रक्षा तथा संवर्धन करना प्रत्येक हिमाचल वासी का कर्तव्य है।

स्थान व पत्रालय नलेटी द्वारा नेहरनपुखर,
तहसील देहरा, जिला कांगड़ा (हि०प्र०)।

अनोखी पुस्तक

—संतराम वत्स्य

अगर मैं पहले ही यह बता दूं कि यह पुस्तक इतनी पुरानी, इतनी बड़ी और इस चीज की बनी हुई है तो आप इसे गप्प समझेंगे और मेरी बात नहीं सुनेंगे। फिर भी, यह वैसी पुस्तक तो निश्चित ही नहीं है जैसी पुस्तक से आप परिचित हैं। यह 'पुस्तक' इस अर्थ में है कि इसमें भूतकाल का दुर्लभ ज्ञान परत-दर-परत छिपा पड़ा है। ज्ञान की ये बातें शब्दों में नहीं लिखी गई हैं। प्रत्यक्ष प्रमाणों द्वारा सिद्ध की गई हैं। इतिहास के पूर्व काल की जो भी बातें पुस्तकों में लिखी मिलती हैं, वे सभी इसी पुस्तक के आधार पर लिखी गई हैं। यह पुस्तक सृष्टि के आदिकाल से लिखी जा रही है और अन्तकाल तक लिखी जाती रहेगी।

इसमें उन बहुत से भीमकाय प्राणियों और वनस्पतियों का इतिहास प्रमाणों सहित अंकित है जो कभी इस धरती पर थे किन्तु लाखों वर्ष पहले समाप्त हो गए।

इसमें ज्वालामुखी के फटने का, भूचालों का, पर्वतों के जन्म का, समुद्रों के स्थान बदलने का और द्वीपों के जन्म का इतिहास अंकित है। उस समय के घोर घने जंगलों का अता-पता भी इसमें मिल जाएगा।

हम इस पुस्तक के अन्तिम पृष्ठ पर रह कर अपना इतिहास अंकित कर रहे हैं। आने वाले वाले युगों में, जब हमारा युग इतिहास बन जाएगा, तो लोग इस पुस्तक को परत-दर-परत उलट पलट कर इस इतिहास को पढ़ लेंगे।

आप जानते ही हैं कि कागज की पुस्तकें बहुत टिकाऊ नहीं होतीं। पन्ने समय पाकर गल जाते हैं। पुस्तक में संचित ज्ञान भी लुप्त हो जाता है। किन्तु इस पुस्तक के बारे में चिन्ता करने का कोई कारण नहीं है। इसके बहुत से पृष्ठ तो पत्थरों पर लिखे हुए हैं। प्रारम्भ के अध्याय महाद्वीपों के नीचे बहुत गहराई में छिपे पड़े हैं। वहां अभी तक कोई पहुंच भी नहीं पाया। यही हाल उन अध्यायों का है जो महासागरों की तली के नीचे हैं। यही कारण है कि प्रारम्भ के अध्यायों में क्या कुछ अंकित है, यह अभी तक जाना नहीं जा सका। फिर भी कुछ अनुमान ज़रूर लगाए गए हैं कि इस पुस्तक के उस भाग में क्या कुछ अंकित है? पुस्तक के अन्त की ओर के पृष्ठों तक हम आसानी से पहुंच सके हैं।

यहां कुछ पृष्ठ ऐसे मिले हैं जिन पर तपे हुए लावे से झुलसने के निशान मौजूद हैं। एकाएक धरती की छाती फोड़ कर ऊंचे उठे पर्वतों की जन्मकुण्डली भी इस पुस्तक में मिल गई है।

समुद्र पहले वहां था, जहां आज हिमालय है। यह कैसे परे को ठेला गया और इसके स्थान पर हिमालय सिर ऊंचा करके उठ खड़ा हुआ, यह सब भी इस पुस्तक में पूरे ब्योरे के साथ देखा जा

सकता है। इस अनोखी पुस्तक के पन्ने भी रंग-बिरंगे हैं। कुछ शंख की तरह सफेद और कुछ कोयले जैसे एकदम काले-कलूटे तथा कुछ बालू की परतों जैसे। यों तो बालू पर लिखा हुआ जल्दी ही मिट जाता है पर इस पुस्तक की ऐसी बात नहीं है।

इस पुस्तक की एक विशेषता यह भी है कि यह सचित्र है। जैसे वनस्पति विज्ञान की पुस्तकों में पत्तियों के चित्र होते हैं, जैसे जीव-विज्ञान की पुस्तकों में जीवों के अस्थिपिंजर आदि होते हैं। ठीक वैसे ही इसमें भी अनेक चित्र हैं।

किसी वृक्ष के मोटे तने को गोलाई में काटें तो उसमें बने हुए गोल-गोल घेरे साफ दिखाई देते हैं। वनस्पति विज्ञानियों का कहना है कि ये घेरे वृक्ष की आयु बताते हैं। एक घेरा वृक्ष की एक वर्ष की आयु का सूचक है जितने घेरे होंगे, वृक्ष की आयु उतने ही वर्ष मानी जाती है।

हमारी पुस्तक यद्यपि गोल जैसी है, पर इसे वृक्ष के तने की तरह काट पाना संभव नहीं है। उससे कुछ पता भी नहीं चलेगा। कारण यह है कि इसका बढ़ाव वृक्ष के तने की तरह मोटाई में नहीं ऊंचाई में हुआ है। इसलिए इसे खड़ी काट में काटकर ही कुछ पता लगाया जा सकता है।

आप ने कटे हुए नदी के किनारे को यदि ध्यान से देखा हो तो वहां बालुई मिट्टी की तहें भी देखी होंगी। ये तहें बाढ़ों द्वारा जमा की हुई मिट्टी को दिखाती हैं। ठीक इसी तरह हमारी इस विशाल पुस्तक की भी रचना हुई है। अन्तर केवल इतना है कि नदी के किनारे की तहें बहुत जल्दी बनी है। और हमारी पुस्तक के तह रूपी पन्नों को बनने में सैंकड़ों, हजारों, लाखों वर्षों का समय लगा है।

इसकी लिपि और उसकी वर्णमाला भी विचित्र है। फिर भी इस विद्या के पंडित वे चाहे जिस देश के हों, इस लिपि को पढ़ ही लेते हैं। इन पण्डितों में न तो देश-भेद है, और न जाति-भेद। उनमें से कोई एक जब इस अनोखी पुस्तक के किसी छिपे पन्ने को खोल कर पढ़ता है और उसे कोई नई जानकारी मिलती है तो वह सभी को बताता है। इस तरह ज्ञान का विस्तार होता है।

हमारी यह धरती ही वह पुस्तक है, जिसके बारे में हम ऊपर बातें करते रहे। इसके गर्भ में जहां तरह-तरह के रत्न छिपे पड़े हैं, जहां खनिज पदार्थों के प्रचुर भण्डार छिपे पड़े हैं वहां प्राकृतिक परिवर्तनों के अनेक प्रमाण भी सुरक्षित हैं। इसमें युगों का इतिहास छिपा पड़ा है। हिमयुग का, ज्वालामुखियों का, भूचालों का और इनके परिणाम स्वरूप होने वाले विनाशों और नव निर्माण का। मनुष्य के विकास का और सभ्यता संस्कृति के विकास का भी इसमें उस कारण परम्परा का उल्लेख आप पाएंगे कि भीमकाय डायनासौर जैसे जन्तु कैसे नष्ट हो गए और मानव इस धरती पर सर्वोपरि कैसे हो गया।

आज केवल मात्र मानव ही है जो इस पुस्तक को पढ़ने की सामर्थ्य रखता है और जो अपना नया इतिहास बना भी रहा है।

के–४७, नवीन शाहदरा,
दिल्ली-32।

कुल्लू में रघुनाथ जी की स्थापना तथा मन्दिर में मनाए जाने वाले उत्सव

—विद्या शर्मा

विक्रमी सम्वत् १६६० के माघ मास के पांचवें प्रविष्टे में श्री रामचन्द्र जी महाराज की अमूल्य तथा अप्राप्य प्रतिमा जो उनके अश्वमेघ यज्ञ के अवसर पर बनाई गई थी, कुल्लू नरेश जगतसिंह के मन्दिर में सुशोभित हुई। प्रतिमा को किन परिस्थितियों में लाया गया, इसके पीछे भी रोचक इतिहास है।

१७ वीं शताब्दी में कुल्लू में राजा जगतसिंह राज्य किया करते थे। राजदरबार में जनता के हर वर्ग के व्यक्तियों के आवागमन का तांता सा बन्धा रहता था। कुछ व्यक्ति इसी प्रयास में रहते थे कि राजा को किस प्रकार प्रसन्न किया जाए ताकि उन पर राजा की कृपा दृष्टि बनी रहे। इसी प्रकार के प्रयास में किसी व्यक्ति ने राजा को सूचना दी कि मणिकरण के निकट टिप्परी गांव में दुर्गादत्त नामक ब्राह्मण के पास एक पत्था मोती हैं जो कि राजदरबार में लाए जाने आवश्यक हैं। बाल हठ और राज हठ तो प्रसिद्ध हैं हीं। राजा इसी हठ में आ गया कि किसी भी मूल्य पर मुझे मोतियों को अपने खजाने में लाना होगा। राजा ने ब्राह्मण के पास कुछ व्यक्तियों को भेजा कि वह शीघ्र मोतियों को दे दे। गरीब ब्राह्मण बहुत भयभीत हुआ क्योंकि उसके पास मोती कहां से हो सकते थे। एक दिन राजा स्वयं ही मणीकरण की ओर चला गया। उसने ब्राह्मण को कहा कि वह मोती उसे सौंप दे, अन्यथा उसे भयंकर परिणाम भुगतना पड़ेगा। भयभीत ब्राह्मण ने कहा कि महाराज! मणीकरण की वापसी पर मैं आपको मोती दे दूंगा। जब राजा के पहुंचने का समय हुआ तो गरीब ब्राह्मण यह सोचने लगा कि अब तो मेरा अन्त आ ही गया है। उसने अपने परिवार के सभी सदस्यों को घर के अन्दर बन्द कर दिया तथा घर में आग लगा दी और अपने मांस के एक एक टुकड़े को अग्नि की भेंट करते हुए यह कहा कि "ले राजा मोती" ब्राह्मण का तो मर्मस्पर्शी ढंग से प्राणान्त हो गया।

इस घटना के पश्चात राजा को हर जगह खून ही खून दिखाई देने लगा। भोजन में भी कीड़े ही कीड़े दिखाई देने लगे। राजा का जीवन दुभर हो गया। यहां तक कि उसे कुष्ठ रोग निकल आया। राजा की यह दशा देख दरबारी तथा हितैषी गण चिन्तित हो उठे। काफी प्रयास के पश्चात भी राजा ठीक न हो सका। इसी उत्तराखण्ड के कुल्लू प्रदेश में नग्गर के समीप एक सिद्ध बाबा दामोदर दास फुआरी तप और अभ्यास करते थे। फुआरी बाबा राजा के रोग का निवारण जानते थे। उन्होंने परामर्श दिया कि यदि अयोध्या में स्थित त्रेतानाथ के मन्दिर में जो भगवान

राम की मूर्ति है और जो अश्वमेध यज्ञ के समय की बनी है, यहां लाई जाए और राजा उसकी नियमत पूजा करे तथा उसका चर्णामृत ले तो राजा का कुष्ठ दूर हो सकता है।

सिद्ध बाबा के इस परामर्श के अनुसार कुल्लू से कुछ व्यक्ति भुइण गोसांई के खानदान के तथा कुछ बन्दल गांव के छड़ीवरदार इकट्ठे होकर अयोध्या पहुंचे। अयोध्या पहुंच कर यह लोग त्रेतानाथ के मन्दिर में रहने लगे। कई दिनों तक वहां रहने के कारण यह लोग वहां की जनता के विश्वासपात्र बन गए। वहां के पुजारी फसल काटने के लिए चले गए तो इन लोगों को मन्दिर में पूजा करने के लिए छोड़ गए। जब तक वे पुजारी अपने गांव से नहीं आए तो यही लोग पूजा करते रहे।

पुजारी की अनुपस्थिति में राजा जगतसिंह की ओर से भेजे गए इन लोगों ने भगवान से प्रार्थना की कि हे भगवन ! जिस कार्य के लिए हमें इतने दिनों तक रुकना पड़ा है, वह पूर्ण हो। एक शाम पूजा के पश्चात् दरवाजे बन्द हो गए और सभी लोग सो गए। आधी रात के समय घण्टी बजने की आवाज आई और अन्दर रोशनी हुई। जिस मूर्ति को चुराने की प्रतीक्षा में वह बैठे थे वह आगे खिसक गई। एक दम रोशनी बढ़ गई और ताले खुल गए। इन कुल्लू निवासियों ने प्रतिमा को उठाया और छुपा कर गुटका मन्त्र द्वारा हरिद्वार आ पहुंचे। अयोध्या वासी पुजारियों को भगवान ने स्वप्न में दृष्टान्त दिया कि वह कुल्लू जा रहे हैं और वे अपना मन्दिर सम्भाल लें जब पुजारी वापिस मन्दिर में आए तो वह प्रतिमा वहां पर नहीं थी। यह अयोध्यावासी पुजारी भी कर्मकाण्डी थे। यह गुटका मन्त्र भी जानते थे। सरयू नदी में बैठकर घण्टों तक समाधि लगाते थे। इन्हें मालूम हो गया कि हरिद्वार में वह लोग मूर्ति सहित हैं तो यह पुजारी वहां पहुंच गये। वहां पहुंचकर लठमारी होने लगी लेकिन कोई निर्णय न हो पाया। अन्ततः दोनों पक्ष इस बात पर सहमत हो गए कि झगड़ने से लाभ नहीं। स्नान करो, कर्मकाण्ड करो और भोजन करो फैसला भगवान परछोड़ दो।

खाना खाकर फिर फैसला होने लगा। कुल्लू वालों ने अयोध्यावासी पुजारियों को मूर्ति उठाने के लिए कहा। अयोध्या वासी मूर्ति उठाने लगे तो उनसे उठाई न गई। इस मूर्ति को वरदान था कि यह यज्ञ में स्थापित हुई थी और इसका मान उत्तर खण्ड में होगा। अयोध्या वासियों से मूर्ति न उठाई गई।

अयोध्यावासी भी बड़े कर्मकाण्डी थे उन्होंने मूर्ति को शाप दिया कि जैसे हम तेरे वियोग में समाप्त हो जाएंगे ऐसे ही तू भी गल-गल कर समाप्त हो जाए। इस प्रकार वे अयोध्यावापिस आ गए। जब कुल्लू वालों ने मूर्ति उठाई तो वह हल्की हो गई। इस प्रकार कुल्लू की ओर रघुनाथजी की प्रतिमा का स्वेच्छा से प्रवेश आरम्भ हो गया। जब मूर्ति कुल्लू के समीप 'कंढी' आ गई तो राजा रानी बाजे के साथ नंगे पांव 'कंढी गौलू' (बजौरा के निकट) तक गए। बजौरा में व्यास में उन्होंने स्नान किया। राजा ने मूर्ति की पूजा की और चर्णामृत लिया। कुछ ही समय में राजा का कुष्ठ रोग दूर हो गया। तभी से राजा ने सारा राजपाट रघुनाथ जी को दे दिया। कुछ पुश्तों तक तो स्वयं ही राजा लोग पूजा-पाठ करते रहे फिर ब्राह्मणों को यह काम सौंप दिया।

कुछ दिन व्यतीत होने पर रघुनाथ जी की मूर्ति का कण्ठ बीच से पतला होना आरम्भ हो गया। थोड़े से समय में इसका आकार जौ के दाने के बराबर रह गया। यह देखकर राजा ने रघुनाथ जी से प्रश्न किया कि भगवान आपको सुख के लिए बुलाया या दुःख के लिए ? यह क्या कारण है ? रघुनाथ जी ने उत्तर दिया कि जब तक मेरे पुराने पुजारी सेवक अवध निवासी मेरे सामने नहीं आएंगे तो मैं ऐसे ही गल-गल कर समाप्त हो जाऊंगा। इसके बाद अयोध्यावासी पुजारियों को बुलाया गया। आज भी इस परिवार के लोग कुल्लू में रह रहे हैं। यह आज से करीब ३७५ साल पहले कुल्लू में आए थे।

कुल्लू में आज भी रघुनाथ जी को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। सारा राज परिवार कुल्लू के देवी देवता व आम जनता किसी भी कार्य को आरम्भ करने से पहले रघुनाथ जी का स्मरण अवश्य करते हैं। सारे उत्सव जिन्हें स्थानीय भाषा में "उच्छव" कहा जाता है आज भी मन्दिर में विधि पूर्वक मनाए जाते हैं। जिस दिन भी मन्दिर में उत्सव हो नोपत व नगारे बजते हैं तथा राजा को प्रत्येक उत्सव में उपस्थित होना पड़ता है। वर्ष में लगभग ३०-४० उत्सव मन्दिर में होते हैं जिनमें मुख्य उत्सवों का वर्णन इस प्रकार है।

मकर संक्रान्ति :

मकर संक्रान्ति का त्यौहार सारे भारत में पवित्र त्यौहार के रुप में मनाया जाता है। कुल्लू में घर का छोटा सदस्य इस अवसर पर वधाई देने के लिए अपने से बड़े सदस्य को द्रव देता है। द्रव एक विशेष किस्म की पवित्र घास होती है। इस प्रथा को स्थानीय भाषा में "जूब देणा" कहते हैं। इसी प्रकार रघुनाथ जी के मन्दिर में इस त्यौहार के समय कुल्लू के राजा रघुनाथ जी को वधाई के रूप में चांदी की बनी द्रब भेंट करते हैं। इस के अतिरिक्त इस दिन तिल के लड्डू व चावलों का दान किया जाता है। मन्दिर में आरती होती है व पूजन किया जाता है।

दुध पेड़ा उत्सव :

इस उत्सव पर सायं रघुनाथ जी को पेड़े का भोग लगता है। यह उत्सव जनवरी मास में मनाया जाता है। इस दिन रघुनाथ जी के मन्दिर में जाकर राजा छड़ी पकड़ते हैं। राजा अपनी गद्दी, जिसे छपाऊई' कहते हैं, पर बैठते हैं। छपाऊई वास्तव में चवाउई से बना है परन्तु स्थानीय भाषा में सहजता के लिए छपाउई कह देते हैं। चोपावी का अर्थ है चार पांव वाली। यह एक प्रकार के सिहासन की भान्ति होती है। सायं दूध पेड़े का भोग लगता है।

तिला एकादशी :

इस दिन रघुनाथ जी के मन्दिर में तिल का भोग लगता है। राजा छड़ी पकड़ते हैं। तिल का भोग राजा साहब की ओर से भेंट किया जाता है।

बसन्त पंचमी :

बसन्त पंचमी का त्यौहार सारे भारत में मनाया जाया है परन्तु कुल्लू के रघुनाथ मन्दिर में इसके मनाने की विधि भिन्न है। बसन्त पंचमी रघुनाथजी के मन्दिर में मनाए जाने वाला मुख्य उत्सव

है। यह उत्सव अंग्रेजी महीने के हिसाब से फरवरी–मार्च में पड़ता है। कुछ वर्ष पूर्व तो यह उत्सव बहुत ही धूमधाम से मनाया जाता था। रघुनाथ जी की सवारी ढालपुर मैदान में जाती थी परन्तु अब यह त्यौहार राजे के बेहड़े (राज महल) के प्रांगण में ही सम्पन्न किया जाता है। रथ में भगवान भरत, वशिष्ठ, हनुमान तथा राम बैठते हैं। भरत मिलाप होता है। पूजा की जाती है। नोपत बजती है। यह त्यौहार भी इसीलिए मनाया जाता है कि इस दिन राम और भरत का मिलन हुआ था। एक छोटा रथ चलाया जाता है। इस दिन वैरागी परिवार (जाति विशेष) का एक व्यक्ति हनुमान बनता है। उसे नंगा करके एक लम्बी पूंछ लगा दी जाती है तथा गेरूएं रंग से उसका सारा शरीर रंग दिया जाता है। जब सारा उत्सव समाप्त होने वाला होता है तो हनुमान जी भारी भीड़ के बीच आते हैं सारा वातावरण एकदम हंसी खुशी में बदल जाता है। कुछ लोग तो अपने आप को रंगवाने के लिए निकट जाते हैं। इसके पीछे यह धारणा वहां पर प्रचलित है कि जिस व्यक्ति को हनुमान जी रंगते हैं तो शुभ होता है। यह भी विचार किया जाता है कि जिसके घर में पुत्र रत्न न हो उसे पुत्र रत्न की प्राप्ति हो जाती है। जब हनुमान अपने जोश में होता है तो वह उछलता हुआ किसी भी व्यक्ति से चाहे वह महिला हो अथवा पुरुष चाहे उसने सुन्दर नये वस्त्र पहने हों आदि का बिल्कुल ध्यान न रखकर उनसे अपने आपको रगड़ कर रंग लगा देता है। यह दृश्य भी देखने योग्य व हास्यपद होता है। इसके पश्चात् रघुनाथ जी की सवारी मन्दिर में वापिस आ जाती है तथा सभी लोग अपने-अपने घरों को वापस आ जाते हैं। यह उत्सव सायं तीन-चार बजे मनाया जाता है जिसे स्थानीय भाषा में 'चौथा पौहर' कहते हैं। पूजा के बाद भोग आदि भी लगाया जाता है। इसके बाद 40 दिन तक कमल आसन लगता है, गुलाल फैंका जाता है। फाग तक ऐसे ही चलता है।

फुल डोल उत्सव (सीता जयन्ती) :

यह उत्सव सीता जयन्ती के अवसर पर मनाया जाता है। इस दिन रघुनाथ जी की प्रतिमा को मन्दिर के बाहर लाया जाता है। डोल लगाए जाते हैं। डोल एक प्रकार का झूला होता है जिसमें रघुनाथ जी की प्रतिमा को झुलाया जाता है झूला झुलाने का काम मन्दिर के पुजारी करते हैं।

लुहाष्टक :

स्थानीय भाषा के शब्द लुहाष्टक की उत्पत्ति होला+अष्टक से हुई है। यह उत्सव होली से आठ दिन पूर्व शुरू हो जाते हैं। होलाष्टक के दिनों में वैरागी परिवार के लोग रघुनाथ जी के मन्दिर में आकर प्रत्येक दिन होली गीत गाते हैं तथा रघुनाथ जी को गुलाल अर्पित करते हैं। यह समझा जाता है कि रघुनाथ जी इन दिनों वैरागियों को साक्षात दर्शन देते हैं। राजा भी छड़ी पकड़ते हैं तथा आरती होती है।

होली :

होली का उत्सव भी इस मन्दिर में विशेष महत्व रखता है। दो दिन होली मनाई जाती है छोटी होली तथा बड़ी होलो। इस दिन राजा को नए वस्त्र धारण करने पड़ते हैं तब वह रघुनाथ जी

को गुलाल भेंट करने व प्रणाम करने जाते हैं तथा सब लोग होली खेलते हैं। कुल्लू में यह विशेषता है कि शहर की प्रत्येक टोली को रघुनाथ जी के मन्दिर में गुलाल अर्पित करने तथा रघुनाथ जी का आशीर्वाद प्राप्त करने अवश्य जाना पड़ता है। मन्दिर में जो गुलाल चढ़ाया जाता है वह आजकल के बाजार के गुलाल की भांति नहीं होता अपितु हल्दी आटे आदि को मिला कर विशेष पुरानी प्रकार की विधि द्वारा तैयार किया हुआ होता है जिसे अधिक पवित्र माना जाता है।

फाग उत्सव :

फाग बड़ी होली को रात को मनाई जाती है। इस दिन पूर्णमासी होती है। कई बार इसके दहन का समय आधी रात को निकलता है। तिथि व समय के निर्धारण के अनुसार ही यह उत्सव होता है। इस दिन रघुनाथ जी के मन्दिर के बाहर कमलासन होता है। फिर रघुनाथ जी पालकी में विराज कर राजा के चौगान में जाते हैं। वहां पर जाकर होलिका पूजन होता है। होलिका दहन के लिए लकड़ियों व झाड़ियों के दो बड़े-बड़े ढेर लगाए जाते हैं। दो ढेरों का अर्थ होता है कि एक नरसिंह की फाग तथा दूसरी रघुनाथ जी की फाग होती है। होलिका पूजन के पश्चात् इन दोनों ढेरों में बारी-बारी आग लगाई जाती है। यह भी उल्लेखनीय है कि ढेरों के बीच में एक ध्वजा होती है। ध्वजा के ऊपरी सिरे में लाल कपड़े में चांदी का रुपया बान्धा गया होता है। इस समय वैरागी परिवार के लोगों को परीक्षा से गुजरना होता है। उसे जलते ढेर में से ध्वजा को खींच कर रुपया लेना होता है।

लपटें आकाश को छू रही होती हैं, जिस समय वह इसे प्राप्त करने में सफल होता है, वह टेढी छड़ी से इसे गिराता है। फाग के जलते हुए दृश्य से पुराने लोग कई निर्णय निकालते हैं कि इस वर्ष देश में क्या होने वाला है। फाग की जली राख को इतना पवित्र माना जाता है कि उसका टीका मस्तक पर लगाया जाता है। आधी रात को चांदनी रात का दृश्य तथा फाग का जलना और रघुनाथ जी के साथ वाद्य यन्त्रों का गूंजन सारे सन्नाटे को चीर देता है तथा सबको यह पता लग जाता है कि फाग का उत्सव मनाया जा रहा है।

केसर डोल उत्सव :

इस उत्सव को वैरागी रघुनाथ जी के मन्दिर में आते हैं। वैरागी से अर्थ यहां सन्यासी से नहीं है परन्तु महन्तों की ही एक जाति से है। रघुनाथ जी मन्दिर के प्रांगण में झूला झूलते हैं। इस दिन रघुनाथ जी की ओर से केसर बांटा जाता है तथा प्रसाद भी वितरित किया जाता है।

नया सम्वत :

नए सम्वत् के आरम्भ होने के उपलक्ष्य में रघुनाथ जी के मन्दिर में पत्री सुनाई जाती है तथा भोग लगाया जाता है। इस समय आरती नहीं होती।

गरुड़ द्वितीय उत्सव :

इस दिन डोल लगता है राजा छड़ी पकड़ते हैं। महाराज झूला झुलाते हैं तथा फिर रघुनाथ जी मन्दिर के अन्दर चले जाते हैं।

पवन तृतीया :

पवन तृतीया गरुड़ जी व पवन जी के जन्म-दिन के उपलक्ष्य में मनाई जाती है। इस दिन भी डोल लगाए जाते हैं तथा राजा छड़ी पकड़ते हैं।

श्री राम नवमी उत्सव :

इस दिन चपाऊई लगती है। राम जन्म के उपलक्ष्य में इस उत्सव को मनाया जाता है। सोंठ व पंजीरी का भोग लगाया जाता है। आरती होती है जिसे बड़ी पूजा कहा जाता है।

वैसाख संग्राँदी उत्सव :

रघुनाथ जी दो दिन पलंघूड़े में झूलते हैं तथा डोल डाले जाते हैं और रघुनाथ जी झूला झूलते हैं।

बन विहार :

पहले बन विहार के दिन रघुनाथ जी को अखाड़ा बाजार के पास (एक ओर) ले जाया जाता था। वहां वह कुछ समय रहते थे। वहां पलना लगता था, आरती होती थी परन्तु अब बन विहार मन्दिर के पास ही मनाया जाता है।

नृसिंह चतुर्दशी उत्सव :

इस दिन नृसिंह अवतार होता है, नृसिंह, हरनाकश बनते हैं फिर राजा आते हैं नृसिंह का राजा शृंगार करते हैं। यह शब्द उच्चारे जाते हैं –'जल में भी राम, थल में भी राम'। इसके पश्चात् कथा होती है, इस समय कृष्ण रास की कथा की जाती है।

ब्राह्म रास उत्सव :

इस दिन रघुनाथ जी के मन्दिर के बाहर तुलसी की क्यारी पर बड़ी बेदी लगाई जाती है। रघुनाथ जी कमल आसन पर विराजमान होते हैं, राजा छड़ी पकड़ते हैं, वेद पाठ होता है तथा भोग लगाया जाता है।

निर्जला एकादशी :

रघुनाथ जी के मन्दिर के बाहर एक तालाब बना हुआ है, इस दिन रघुनाथ जी को इस तालाब में स्नान करवाया जाता है। स्नान के उपरान्त पुरी पूजा की जाती है, आरती होती है। राजा छड़ी पकड़ते हैं, चन्दन का शृंगार किया जाता है फिर रघुनाथ जी को अन्दर ले जाते हैं।

जगरनाथ द्वितीया :

इस दिन रघुनाथ जी रथ में बैठ कर ससुराल जाते हैं। रथ को मन्दिर के बाहर कोई १०–१२ गज की दूरी तक ले जाया जाता है। रथ राजा द्वारा खैंचा जाता है। फिर रघुनाथ जी वापिस आ जाते हैं। आरती होती है तथा भोग लगता है।

देव शयनी :

यह धारणा बनी हुई है कि देवता चार मास तक शयन करते हैं। विष्णु की प्रतिमा बनाई जाती है तथा पूजा की जाती है।

तुलसी प्रतिष्ठा :

तुलसी प्रतिष्ठा को भी यहां उत्सव के रूप में मनाया जाता है। तुलसी की पूजा व आरती होती है। सालिग्राम को ले जाया जाता है।

पवित्र रूपणी :

इस दिन राजा द्वारा सोने का यज्ञोपवीत बनाया जाता है जो कि रघुनाथ जी के गले में तीन दिन तक डाला जाता है। यह यज्ञोपवीत पूजा आदि करके विधिपूर्वक पहनाया जाता है फिर पूर्णमाशी को राखी के दिन उतार कर पुजारी को दे दिया जाता है।

कृष्ण जन्माष्टमी :

इस दिन रात को १२ बजे कृष्ण के जन्म के समय पूजा की जाती है तथा राजा छड़ी पकड़ते हैं, भोग आदि लगाया जाता है।

अंग वर्धिनी एकादशी :

रात को विष्णु की प्रतिमा की पूजा होती है, आरती होती है तथा भोग लगता है। इससे अगले दिन वामन द्वादशी होती है। वामन जी बनाए जाते हैं। कपड़े मुकट आदि पहनाया जाता है। इस दिन राजा आकर आरती करते हैं। वामन को भी राजा तैयार करते हैं। इस दिन की एक यह भी विशेषता है कि दहीं का भोग रघुनाथ जी को लगाया जाता है।

नन्त चौदश :

नन्त चौदश को 'नन्त चौद' के नाम से जाना जाता है। इस दिन रघुनाथ जी को १४ किस्म के रोट, १४ किस्म के फूल चढ़ाए जाते हैं तथा अनन्त भगवान का पूजन किया जाता है।

सैरी साजा :

पहले दिन शाम को ५–७ अनाजों की स्थापना की जाती है, पूजन होता है। यह फसल की समृद्धि की कामना के लिए मनाया जाता है। संक्रान्ति के दिन राजा चान्दी की द्रव बना कर रघुनाथ जी को भेंट करते हैं।

विजय दशमी :

विजय दशमी को सब साज बाजों का पूजन होता है। रथ यात्रा के लिए रघुनाथ जी पालकी में बैठ कर बहुत बड़े जलूस के साथ रथ यात्रा के लिए सायं ३–४ बजे (मुहूर्त अनुसार) प्रस्थान करते हैं। राजा अपने परिवार सहित इस जलूस में पैदल चलते हैं। राजा की पालकी को

खाली ले जाया जाता है। यह सब राजा द्वारा रघुनाथ जी के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए किया जाता है। राजा की घोड़ी भी सजधज कर गहने डाल कर जलूस में शामिल की जाती है। दूर दूर से आए देवी देवता भी सबसे पहले रघुनाथ जी के दर्शन के लिए आते हैं तत्पश्चात् मेले में शामिल होते हैं। ढालपुर में पहुंच कर रघुनाथ जी को सजे धजे रथ में बिठाया जाता है। राजा रथ की परिक्रमा करते हैं। सभी देवी देवता शामिल होते हैं फिर रथ यात्रा आरम्भ होती है। दशहरे के दौरान रघुनाथ जी का कैम्प ढालपुर मैदान में लगता है। पूजा आदि वहीं की जाती है। मेले में आए सभी लोग दर्शन करते हैं तथा चर्णामृत ग्रहण करते हैं। लंका दहन के पश्चात् रघुनाथ जी रथ में बैठ कर पुन: वापिस आ जाते हैं तथा मन्दिर में पुन: चले जाते हैं। इसके पश्चात् राम रास होती है। राजा छड़ी पकड़ते हैं। अठारह करड़ू का बरछ उठाया जाता है।

नकूट :

नकूट चावल की नई फसल के उपलक्ष्य में मनाए जाने वाला उत्सव है। इस दिन चावल को पका कर पर्वत सा बनाया जाता है। उस पर्वत पर रघुनाथ जी को बिठाया जाता है। राजा छड़ी पकड़ते हैं। आरती की जाती है। गाय की पूजा भी की जाती है।

दीपावली :

दीपावली का उत्सव मनाने की विधि भी यहां कुछ भिन्न है। महाराजा क्यारी के पास बैठ कर कीहू पूजन करते हैं। पराल (धान का भूसा) द्वारा रस्से की तरह बनाए गए पुल्लों को राजा व पुजारी एक एक ओर से पकड़ते हैं। इसमें आग लगा दी जाती है, फिर राजा व पुजारी घुमाते हैं। राजा छड़ी पकड़ते हैं। भोग लगाया जाता है।

इस प्रकार मुख्य उत्सव मन्दिर में मनाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त राज-परिवार के प्रत्येक सदस्य के जन्म दिवस को भी मनाया जाता है। अन्य छोटे-छोटे उत्सव जैसे गोवर्धन पूजा हरि प्रवोधनी, बैकुण्ठ चतुर्दशी, वीर पूर्णिमा तथा कौली दीपावली आदि भी उत्सवों के रूप में मनाए जाते हैं।

ग्राम ढोभी, कुल्लू,
हिमाचल प्रदेश।

प्राकृतिक सौंदर्य से युक्त खीरगंगा

–लीलाधर पराशर

समूचे हिमाचल प्रदेश को प्रकृति का वरदान ही कहा जा सकता है। सृष्टि रचयिता भी अपना घूंघट नहीं खोल सकता, हर तरफ रमणीय स्थान ही नजर आते हैं। परन्तु ज्यादातर प्राकृतिक आंचलों से देवभूमि कुल्लू को ही अग्रगण्य कहे तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। प्राकृति के आवरण में आच्छादित कुल्लू को कौन नहीं जानता होगा, लेकिन पर्यटक दृष्टि से भली भान्ति सभी जानते हैं। देवभूमि के दूर-दराज क्षेत्र का भ्रमण नहीं किया होगा। यदि इसको देवभूमि की संज्ञा न दें तो प्राकृतिक की संज्ञा से तो विभूषित किया जा सकता है। पर्यटक की दृष्टि से तो यह अछूता ही रहा होगा, देश और विदेश से केवल मनाली और मणीकर्ण ही सीमित है। अन्य जगह का ज्ञान उन्हें नहीं हो सकता, जब तक कि वह समूची देवभूमि का अवलोकन न करें। प्रकृति ने अपने आंचल में लिया हुआ वह स्थान चारों ओर आसमान को छूने वाले देवदार के वृक्ष, कल-कल करती नदिया का कलरव कितना ही सुन्दर मन को लुभाने वाला और चक्षु को शान्ति देने वाला वह दृश्यअपने आगोश में समेट लेता है। दूध और पानी का मिश्रण झाग और चिकनाहट से युक्त यदि 'खीरगंगा' का दृश्य दर्शाया जाए तो पाठकों को कोई भ्रान्ति न होगी वैसे तो वह नया नाम नहीं है पर पर्यटक और दूर-दराज के क्षेत्रों के लोगों को यह नया भी हो सकता है। परन्तु कुदरत के बने को कौन मिटा सकता है और कौन बना सकता है। कई हजारों साल बीत जाते हैं पर वह आलौकिक दृष्य की छाप कभी भी नहीं मिट सकती, देवभूमि की पृष्ठभूमि से यही अनुमान लिया जा सकता है। अधिकतर देवता किन्नर, ऋषि और देवियों की गाथा और स्थान कुल्लू में ही होंगे, अन्य जगह भी होंगे परन्तु छोटे मोटे मन्दिर को लिया जाए तो अधिक होंगे। इतिहास और पुराणों में भी इनका कथन बरकरार है। यहीं से देवभूमि की विशेषता आंकी जा सकती है। अनुमान से तो खीरगंगा का नाम साधारणतयः तो ठीक है परन्तु पाठक भी उलझनों का शिकार अवश्य ही होगा यही उनका अनुमान होगा कि खीर की नदी बहती होगी यह सर्वथा भ्रान्ति है। लेखक केवल इतनी गहराई में नहीं जाना चाहता' विषय केवल खीरगंगा का है।

खीर गंगा का स्थान पार्वती के किनारे–किनारे चल कर मुख्य मार्ग भून्तर से मणीकर्ण तक आपको वाहन से चलना होगा यदि आपने प्रकृति का आनन्द प्राप्त करना होगा तो आपको ग्यारह नम्बर की गाड़ी में जाना होगा। भून्तर में ही व्यास और पार्वती का मधुर मिलन होता है और इस स्थान को संगम कह कर स्थानीय लोग विशेष पर्व पर स्नान करते हैं। आगे चल कर दुर्गम रास्ते से आपको मणीकर्ण पहुंचना पड़ता है। मणीकर्ण से ही तंग रास्ता जाता है यनि की पगडण्डी। वाहनों का तो सवाल ही नहीं रहता और जो भी इस स्थान पर जाना चाहता है वह अपने धैर्य और बाहुबल और साहस से चलता है अकेला आदमी भी नहीं

जा सकता। मणीकर्ण तक तो आपको किसी भी तरह का खतरा मोल नहीं लेना पड़ता। मणीकर्ण से एक दिन का रास्ता है। यदि प्रातः काल ही प्रस्तान किया जाए तो जल्दी भी पहुंच सकते हैं। प्रकृति का वर्णन भी कहां तक किया जाए क्योंकि वह हर एक का सौभाग्य ही बता सकता है। और हर एक को यह प्राप्त भी नहीं हो सकता। दुर्गम रास्ते से पैदल मार्च करना पड़ता है गहन जंगल देवदार और चीड़ के वृक्ष उस स्थान को सुशोभित करके जाने वालों को अपने पाश में बान्ध लेते हैं। आसमान को छू लेने वाले और आपको देख कर के इसी ही समय की इन्तज़ारी में कि कौन भाग्यवान इस रास्ते से चल कर हमारी छटा को देख करके हसता है और वह प्रकृति के बने हुए पालित वृक्ष भी आपकी परछाईं का अनुसरण करके आपके साथ ही जाना चाहते हैं पर वे नहीं जा सकते।

अनेक प्रकार की जड़ी बूटियों से युक्त बीहड़ जंगलों से गुजरना पड़ता है। जड़ी बूटियां भी अपना प्रभाव डाल देती हैं, चलना भी मुश्किल हो जाता है। थकान भी काफी महसूस होती है। भूखे पेट चलें तो वहां पर पहुंचना ही असम्भव हो जाता है, रास्ता भी अच्छा नहीं है। जंगली जानवरों का भी आतंक रहता है। पर्यटक की पहुंच वहां तक नहीं है। केवल स्थानीय लोग ही वहां पर जाते हैं। साल में केवल चार मास ही जाया जाता है इसके अतिरिक्त वर्फ के काफिलों से सारा भाग ही अन्य जगह से कट जाता है।

पार्वती मां की कल-कल ध्वनि मन को हल्लादित करके सायं-सायं करती हुई हमको पीछे छोड़ जाती है और सभी को यह संकेत करती हुई कि मैं ऐसे सौन्दर्य स्थान को छोड़ कर जा रही हूं, तुम भी मेरी तरह नादान मत बनों और ऐसे स्थानों का चयन करो तथा सौन्दर्य छटा में वलीन हो जाओ। जो भी वहां जाता है कभी भी थकान का व्याख्यान नहीं करता क्योंकि अपनी थकान को भूल कर आगे चलने की चाह को लेकर चलता ही रहता है। पहाड़ी और जंगली रास्ते को तय करके आगे मैदानी भाग आ जाता है, दूर-दराज ही जंगल नजर आते हैं। नंगे पहाड़ों को देख कर कलेजा मुंह को आ जाता है।

खीरगंगा का मुख्य स्रोत एक नंगे पहाड़ में है। पहाड़ से निकल कर वह एक तालाब में परिवर्तित हो जाती है। पानी का बहाव भी अधिक नहीं है तथा गांव भी दूर-दराज में ही स्थित हैं। इसकी उत्पत्ति के बारे में कई मत हैं। सही प्रमाण तो नहीं पाया गया आज तक और उस समय का प्रमाण कौन हो सकता है, न जाने कितने हजार वर्षों की घटना होगी, अनुमान नहीं लगाया जा सकता। एक मत इस प्रकार बताया जाता है कि गर्मियों में गद्दी लोग अपनी भेड़ों को उस स्थान पर ले जाते थे, आज कल भी ले जाते हैं। इस स्थान से आगे भी ले जाते हैं। यहीं पर वे अपना डेरा डाल करके अपने माल की रक्षा करते थे। वहां पर गंगा मां की उत्पत्ति उसी स्रोत से मानी जाती थी। गंगा अपने में मस्त थी और गद्दी भी अपनी भेड़ों को लेकर अपने स्थान पर आ गया और अपने भोजन की व्यवस्था करके खीर का भोजन बनाया और गंगा के पास चला गया और कहा कि गंगा माता तू यहां पर क्या कर रही है। तेरी साथिनीं तो यहां से कोसों दूर चली गई हैं। व्यासा और पार्वती का निकलना सुन कर गगा ने भी अपना विकराल रूप धारण करके भागने को उद्यत हुई और एक दम ही तालाब से बाहर निकल गई और तीव्रगति से भागने लगी। गद्दी की बनी खीर भी साथ ले गई। पानी का रंग सफेद हो गया और निरी खीर बहने लगी तथा उस दिन से खीरगंगा नाम से पुकारे जाने लगी।

एक अन्य पट कथा भगवान आशुतोष से सम्बन्धित है। भगवान सदा शिव और पार्वती ने उसी स्थान का अपनी अराधना के लिए चयन कर लिया था और कुछ दिन के बाद आपसी मन-मुटाव के कारण शंकर उस स्थान को छोड़ कर कुछ ही दूर पर जा कर अपनी तपस्या में लीन हो गए। और उधर पार्वती भी अकेली ही रह गई। उसने भी भगवान शंकर को प्रसन्न करने के लिए तपस्या करनी शुरू कर दी। पार्वती के तप से शंकर की आराधना भंग हो गई और कामदेव ने भी भगवान को जागृत करवा दिया। शंकर को कामदेव के सताये जाने पर स्थान को तुरन्त ही छोड़ना पड़ा और पार्वती के समीप जा कर विहार लीला में रत हो गये और कई दिनों तक व्यस्त रहने पर उनको भोजन की कोई भी याद न आई।

पार्वती मां ने अपने आहार के लिए पहले ही खीर बनवा करके रख ली थी। विहार करते-करते उनकी खीर पानी में बह गई और पानी का रंग भी बदल गया। जब उन्होंने पानी को सफेद रंग में बदला हुआ देखा तो भूख ने भी सताना शुरू कर दिया। भोजन की इच्छा करके खीर पर नजर जाते ही सारी खीर पानी में बह रही थी। उसी समय भगवान शंकर ने खीरगंगा की उत्पत्ति करवा करके वहां से अपने कैलाश पर्वत पर चले गये।

आज भी पानी खीर की तरह बहता है। उसमें हर समय दूध का झाग और दूध की तरह सफेद व चिकनाहट भी काफी मात्रा में है। लोग प्रसाद के रुप में वहां से बने शैवाल को ग्रहन करते हैं। प्रायः लोग वहां पर भादों की बीही को जाते हैं। इस दिन खीर गंगा में मेला लगता है और अधिक मात्रा में लोग जाते हैं। प्रातःकाल ही स्नान करके अपने पापों का प्रायश्चित करते हैं वहां पर एक बार नहाने से सभी प्रकार के चर्मरोग मूलरूप से नष्ट हो जाते हैं तथा दूसरी बार कभी नहीं होते। पानी गर्म तो नहीं हैं पर शीतल अवश्य ही है। आजकल के दिनों में स्थानीय लोग उस तरफ जा कर अनेक प्रकार की जड़ी-बुटियों का व्यापार करते हैं अब तो कुछ समय से खीरगंगा के पास एक साधु भी रहता है, उस भंयकर वन में अकेला ही रहता है और आने वाले शुभ चिन्तकों को चाय आदि देता है और वह लाखों रुपये कमाता है। बर्फ पड़ने से पहले वह मणीकरर्ण आ जाता है। अब तो वह विवाहित जीवन के पाश में बन्ध चुका है। अतिश्वेता अर्थात् हिप्पण को अपनी रखैल बना कर वहीं अपनी शेष जिन्दगी बसर कर रहा हैं।

खीरगंगा से कुछ दूर आगे एक और रमणीय स्थान रुद्रनाग है। वहां पर भी पानी का तालाब है। भगवान शंकर से जुड़ी पटकथा है। आज कल भी भगवान रुद्र के नाग वहां पर मौजूद हैं। रूद्रनाग में स्थानीय लोग यानि 'देवभूमि कुल्लु' अपने देवतों को ले जा कर वहां उस तालाब में स्नान करवा देते हैं यदि किसी देवते का रथ नया बनवाना हो तो रथ की लकड़ी भी रूद्रनाग में लाई जाती हैं हजारों की संख्या में देवते के करिन्दे जाते हैं।

पार्वती घाटी में आगे चलकर एक से बढ़ कर एक स्थान शोभनीय मिलेंगे। खीरगंगा से एक दिन का रास्ता मानतलाई को है वहां पर तो प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन भी नहीं किया जा सकता है। देश-विदेश के पर्यटक केवल मनाली और मणीकर्ण तक सीमित है। परन्तु देवभूमि कुल्लू के रमणीय स्थानों से अभी तक अनभिज्ञ हैं।

भाषा विभाग, कुल्लु

पहाड़ी साहित्य समीक्षा

पहाड़ी कवि और उनकी कविता–१

–तुलसी रमण

हिमाचल की पहाड़ियों में बसने वाले जिन्दा–दिल लोगों की भाषा पहाड़ी का लोक साहित्य बहुत समृद्ध रहा है। यहां के लोक गीतों, लोककथाओं एवं लोकोक्तियों आदि में पार्वती संस्कृति एवं जनजीवन की सही तस्वीर उभरी है। लोक भाषा पहाड़ी को साहित्यिक कलेवर देने की बात पुरानी नहीं है। पिछले दस-बारह वर्षों से ही साहित्यकारों ने जन-भाषा की स्वच्छन्द धारा को स्थायित्व प्रदान करने के उद्देश्य से लिखित साहित्य जुटाने क बीड़ा उठाया है। प्रदेश सरकार ने भी इस ओर विशेष उत्साह दिखाया है। समृद्ध साहित्य का महल खड़ा करने के प्रयास में लगभग एक दर्जन वर्षों में सौ से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। जिनमें कविता, कहानी, नाटक, लेख एवं निबन्धादि की रचना हुई है। पहाड़ी में प्रचुर साहित्य सर्जन हो जाने पर भी अभी तक साहित्यिक भाषा का कोई एक रूप उभर कर सामने नहीं आया। इतना जरूर है कि इस अल्पावधि में ही पहाड़ी की महासूवी कुलूवी, सिरमौरी, कांगड़ी, मण्डयाली, चम्बयाली आदि उपभाषाओं के साहित्य में सामंजस्य के दर्शन होने लगे हैं। ऐसा होना भाषा के निश्चित रूप की ओर अग्रसर होने का सूचक कहा जा सकता है।

विषय की ओर आते हुए पहाड़ी कविता की बात करें तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पहाड़ी में कविता रचना ही अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक प्रचुर एवं प्रभावशाली रही है। ऐसा प्रदेश के विभिन्न भागों में समय-समय पर पहाड़ी कवि सम्मेलनों के आयोजन के फलस्वरूप भी हुआ है। पहाड़ी कविता भी अन्य विधाओं की भांति उपभाषाओं की सीमाओं से अभी तक बाहर निकलने की कोशिश में है। यह कोशिश तब अधिक बल पकड़ती है जब एक क्षेत्र के कवि को दूसरे उपभाषा क्षेत्र के मंच पर अपनी अभिव्यक्ति को श्रोताओं के लिए पूर्णतया ग्राह्य बनाने की क्रिया से जूझना होता है। लेकिन ऐसे भी कवि हैं जो मौलिकता पर बल देकर ठेठ मातृवाद के पक्ष पोषक कहे जा सकते हैं भले ही श्रोताओं की बोरियत दूर करने के लिए स्पष्ट अभिव्यक्ति की बजाय प्रभावशाली अभिनय से गुजारा चलाना पड़े। इस प्रकार कुछ कवि सांझा करने यानि सामंजस्य के लिए तैयार हैं तो कुछ इतने सूक्ष्म मौलिकतावादी भी हैं जो जरा भी लीक से हटने का नाम नहीं लेते, भले ही उनकी कविताओं का दायरा चन्द गांवों तक ही सीमित हो जाए। यहां यह उल्लेखनीय है कि जहां तक भावों को सहज अभिव्यक्ति देने की बात है वह शुद्ध मौलिकता में ही सुलभ हो सकती है, और यदि राज्य स्तर पर साहित्यिक भाषा को उभारने का सवाल है तो सांझा करने जैसी सोच बनानी ही होगी। क्या ही अच्छा हो यदि क्षेत्रीय पूर्वाग्रह से बचकर भाषा का एक ऐसा रूप उभर कर आए जिसमें हिमाचल की माटी की महक बनी रहे।

हां, तो यह कुछ करने का अधिकांश बोझ जिन कवियों (साहित्यकारों) के उचकते कन्धों पर है। उनकी कविता पर बात करने से पहले मुझे यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि पहाड़ी कविता की समीक्षा इससे पहले भी हुई है। डा० आत्मा राम ने कांगड़ी कविता का काव्य शास्त्रीय अध्ययन[1] करते हुए इसे भारतीय एवं पाश्चात्य, प्राचीन एवं आधुनिक काव्य सिद्धान्तों की कसौटी पर परखते हुए जहां शैशव में प्रौढ़ता की अपेक्षा की है वहां जूझते रचनाकारों को सही लक्ष्य की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा भी दी है। रत्नसिंह हिमेश ने डा० साहिब के आत्मारामीय ढ़ंग को पसन्द किया और कुछ हड़बड़ाते हुए (उन्हीं के शब्दों में) समीक्षा के लिए "फूहड़पन का परशुरामीय ढ़ंग अपनाया।[2] कलम का कुल्हाड़ा क्या गिराया कि कविताओं की... ..परीक्षा करते हुए मुर्दघाटी गम्भीरता को फटकने न दिया और बराबर रोचकता बनाए रखी। हिमेश, ने पहाड़ी कविता की समीक्षा में छन्द और भाषा पक्ष पर जोर देते हुए भाव, बिम्ब अलंकारादि का अभाव मान कर इन्हें नजर अन्दाज किया है। अब ऐसी स्थिति में मुझे किसी ढ़ंग की सोच में पड़े बिना कृषियों और उनकी कविताओं के साथ साथ चर्चा करते जाना है, भले ही समीक्षा अनामि का हो या चाहे तो रमणीय बन जाए।

पहाड़ी का लिखित साहित्य जिन प्रमुख उपभाषा क्षेत्रों के आधार पर प्रकाश में आ रहा है उनमें महासूवी क्षेत्र एक है। इसके अन्तर्गत वर्तमान शिमला तथा सोलन जिलों के अधिकतर भाग आते हैं। इस क्षेत्र को शिमला शैलमाला उपभाषा क्षेत्र भी कहा जा सकता है और भाषायी आधार पर ऊपरी व लोअर महासू इन दो हिस्सों में भी बांटा जाता रहा है। महासूवी उपभाषा के अन्तर्गत बुशहरी, क्योथली, बघाटी आदि कई बोलियां आती हैं। पड़ौस के कारण कुल्लूई, सिरमौरी तथा कहलूरी आदि उपभाषाओं के साथ शब्दों तथा भाषायी लहजे का आदान-प्रदान भी रहा है।

जहां तक लोक साहित्य का सवाल है लामण, भौंरू, झूरी, भारता, गाथा, लाहणे (ब्याह), पवाड़ा, बार, नाटी व गिधा आदि गीत विधाओं में यहां के लोक कवियों की कविता का उत्कृष्ठ रूप देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त रियासती शासकों के दरबार में कविता बोलने की भी कहीं-कहीं परम्परा रही है लेकिन लोक-कविता को अलग छोड़ यहां लिखित कविता ही समीक्षा का विषय है। महासूवी उपभाषा क्षेत्र के लगभग बारह-पन्द्रह कवियों की पहाड़ी कविताएं प्रकाश में आई हैं जिन पर यहां बात करनी है।

गिरि की घाटियों का गायक कवि-जमाल :

जुब्बल के निकट गांव शाड़ी में जन्में उर्दू और पहाड़ी कवि काहन सिंह 'जमाल' का पहाड़ी काव्य संग्रह "गिरि गांगे री धारो" प्रकाशित हुआ है। इससे पहले भी जमाल की कविताएं हिमभारती और काव्यधारा में प्रकाशित तथा आकाशवाणी से प्रसारित हुई हैं। पहाड़ी के अतिरिक्त वक्त की आवाज (हिन्दी गीत संग्रह), पंखुड़ियां (उर्दू शायरी) तथा शहीद प्रकाश (हिन्दी नाटक) ये तीन पुस्तकें भी जमाल ने लिखी हैं।

---

1. शोध पत्रावली भाग ३, पृष्ठ ६, –'कांगड़ी कविना –काव्य शास्त्रीय अध्ययन'।
2. शोध पत्रावली भाग ३, पृष्ठ ७३, –'पहाड़ी कविता –एक समीक्षा'।

स्कूली शिक्षा के बाद जमाल ने १९४० में जुब्बल रियासत में नौकरी शुरु की और प्रजा-मंडल के कार्यक्रमों से प्रभावित होकर पंझोता आन्दोलन की लपेट में आए और रियासती नौकरी से हाथ धोने पड़े। स्वतन्त्रता के बाद १९४८ में सरकारी सेवा में नियुक्ति मिली। इसके बाद ग्रेजुवेट हुए और साहित्य सृजन तो चल ही रहा था। जमाल साहिब देखने में जितने शांत लगते हैं उनका कवि हृदय राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित उतना ही क्रान्त है। जब तक सरकारी नौकरी में रहे शिमला में इनका खामोश सा मासूम चेहरा काफी-हाऊस के अहाते में देखा जाता और 'बज़्में अदब' के मुशायरों आदि के आयोजनों के दौरान सचिव की हैसियत से व्यस्त गेटी-थियेटर के भीतर–बाहर भी। बगल में छोटा बस्ता, कुछ अखबार या पुस्तक भी दबाए रखते। लेकिन अब सेवा-निवृत होने पर जमाल साहिब 'गिरि गंगा' की घाटियों में स्थित अपने गांव में रहने लगे हैं तो शिमला में दर्शन कभी कभार ही हो पाते हैं।

कविता के बारे में जमाल ने अपने काव्य संग्रह में घोषणा की :

कविता असौ मेरे दौलत सहारा आखरी उमेरा रा।[1]

इनकी जिन्दगी के आखिरी सहारे यानी कवि की दौलत कविता की बार्ता करें तो प्रेम शृंगार से ओत-प्रोत, प्रकृति चित्रण व देश-भक्ति से पूर्ण तथा सामाजिक विसगतियों के प्रति व्यंग्यात्मक भावों को गिरि गंगा की धारा के समान अटकते उछलते हुए भी अभिव्यक्ति मिली है :

कपड़ौ पहड़ौ रैं हियैं दू निकले,
नाचो ओ गांदे उछलदे ए उतरे।[2]

ये पंक्तियां कुपड़ की पहाड़ियों से निकलने वाली टकराती–उछलती गिरिगंगा की धारा का चित्रण तो करती ही हैं इसके साथ जमाल साहिब की नाचती गाती कविताओं की ओर भी संकेत करती लगती हैं। जहां तक अटकने का प्रश्न है, यह अटकाव या रुकाव सशक्त भावों और सही अभिव्यक्त के मध्य जूझन के रूप में देखा जा सकता है। जमाल की कविता पढ़ने से ऐसा लगता है कि कवि के हृदय में भाव किस कदर उमड़ते हैं उनकी अभिव्यक्ति, काव्यशिल्प के चमत्कार के अभाव में उस कदर नहीं हो पाती। कविता का सहज प्रभाव कुछ टकराता सा लगता है, जैसे पत्थरों, चट्टानों से गिरि नदी का जल प्रभाव। अकवितामय शब्दों का प्रयोग, छन्द का लोभ रहते भी बहुत बार चूक सा जाना तथा कुछ रचनाओं का साहित्यिक पकड़ से बाहर छूट जाना आदि ही इन की काव्यधारा के प्रभाव से संघर्ष करने को तत्पर रहते हैं। बावजूद इसके जमाल की कविता सशक्त भावों से बल पर पहाड़ी जन-जीवन, प्राकृतिक सौन्दर्य तथा सामयिक सन्दर्भ का बखान करती प्रेम तथा शृंगार के सुन्दर वर्णन में सफल हुई है। प्रेमी कवि का आतुर हृदय यों पुकारता है :

आखी रे कटोरू दो पलावंदी तौ का हंदौ।[3]

---

1. गिरि गांगे री धारौ, पृष्ठ
2. गिरी गांगे री धारौ, पृष्ठ २१, 'तेरी शरण पड़ू गिरी गंगा माता'
3. गिरि गांगे री धारौ, पृष्ठ २८, गजल।

लेकिन कवि ने जिसे फूल समझा है वह कांटा बना कलेजे का :

राती दूसो आंव तड़का जेस फूलो री तांई ।
सैं फूल मेरे काल्जे रा कांडा निकला ।[1]

इसी ग़म में आंसुओं की बरसात हुई है शायद :

मेरे घरे बर्शो सदा आशू रे बरसात ।[2]

प्यार न किया हो या न मिला हो, बाए ऐसी भी नहीं :

प्यार किया उमरे भरी दिल मगर डटो नांई ।[3]

दिल के न 'डटने' पर फिर वही ग़म का सिलसिला जिस से बच पाना सहृदय कवि के वश की बात नहीं :

तेरा गम भूलू तो बड़े बात होले ।[4]

लेकिन यह अकेलापन जहां विरह–वेदना देता है वहां मीठी यादों को भो समेटना नहीं भूलता :

एखलापन भी बड़े चीज असौं हलौ ।
से भी मिलौ जो कभीं न मिलो हलौ ।[5]

मर्म भाव बहुत बार इसी तरह अच्छे लहजे में व्यक्त हुए हैं। जमाल की गजलों में प्रेम के ये खट्टे-मीठे अनुभव जिये और भोगे जीवन के प्रतिबिम्ब ही तो हैं। जिसके प्रमाण हैं वे गीत जिनमें पुलवाहल में उठाती जवानी का एक वर्ष काटते हुए :

बात एसो जिऊ मेरो कमजोर निकलो ।[6] जैसे पश्चाताप के स्वर हैं और भोग का एहसास भी ।

मेले त्यौहारों के अवसर पर ग्रामीण जन–जीवन के हर्षोल्लास से प्रेरित जमाल का कवि हृदय कह उठता है :

गमौं दा खुशी रा तराना सौ गाओ ।
हिमाचली लोगो रा एजा सभाओ ।[7]

---

1. गिरी गांगे री धारौ, पृष्ठ २७, गजल ।
2. गिरी गांगे री धारौ, पृष्ठ ३२, गजल ।
3. गिरी गांगे री धारौ, पृष्ठ ४१, गजल ।
4. गिरी गांगे री धारौ, पृष्ठ ४४, गजल ।
5. गिरी गांगे री धारौ, पृष्ठ ५४, गजल ।
6. गिरी गांगे री धारौ, पृष्ठ १४०, 'जाति रा बन्धन'
7. गिरी गांगे री धारौ, पृष्ठ ५६, गजल ।

रूढ़ियों के प्रति आक्रोश यों फूटा है :

म्हारे गले फशा ओंदा पराणे रसमों रा पात्थर ।[1]

ऐसे भावों के चिंतन में लीन सहृदय कवि का ध्यान बार-बार प्रेयसी की वही मीठी आवाज आकृष्ट करती है और जिसम पुलकित हो उठता है :

अवाज आओ तिओंरे तौ जिसम झनझनाओं ।[2]

उसी नायिका को 'बिशु' मेले के अवसर पर नव-यौवनाओं की भीड़ में तलाशते कवि के मुख से ये पंक्तियां निकलती हैं :

एस् बिशु रे मेले दी,
सौ अच्छी-अच्छी मांई,
एक तू ही नांई ।[3]

कवि ने जात-पांत के बन्धन तथा छोटा परिवार जैसी वक्त की बातें भी की हैं। सामयिक जीवन की विसंगतियों के प्रति उसकी आंखों मे गिरते आंसू भी देखे गए हैं तो गद्दारों का इलाज भी कवि ने बताया है। कृषि के प्रति चिन्तित कवि जमाल ने अपनी मां की इस उक्ति को उचित ठहराया है :

पढ़े लिखे माटी दा न छाड़ो लै हाथ ।[4]

जिसके फलस्वरूप भुखमरी की तस्वीर यों उभरी है :

राशणो खी लैणी दा खड़ा रो किसानौ रा बेटा
ओ खाओ हिमेचलौ दा भी अमरीके रा आटा ।[5]

जमाल के गीतों में देशगान,वीरगान तथा सामयिक गान मिलता है। इनके गीत, लोक गीतों जैसे सादगी का पजामा पहने हैं और गज़लों में उर्दू शायरी की रंगत झलकती है कविताओं में प्रकृति के शब्द चित्र और मानवीय भावनाओं की तस्वीर उभरी है। इस गायक कवि ने गीत के प्रति अपना समर्पण यों व्यक्त किया है :

मेरा जिसम माटी दा मिलौ ला जबै धूलौ दा ।
रूइयो नांई हिमाचलियौ मिलूला हांऊं गी तौं बा ।[6]

कविता के प्रति कवि के इस प्रकार के समपर्ण की सराहना की ही जानी चाहिए। समर्पित कवि जमाल अब पूरी तरह अपने गांव के किसानों और बागबानों के बीच रह रहे हैं तो गांव की मोहक वादियों, समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा और विलक्षण जन-जीवन को लेकर शुद्ध पहाड़ी सोच से प्रेरित कविता की विकाशील पहाड़ी साहित्य तथा उसके पाठकों अपेक्षा रहेगी ही।

---

1. गिरी गांगे री धारौ, पृष्ठ ५६, गज़ल।
2. गिरी गांगे री धारौ, पृष्ठ ६७, गज़ल।
3. गिरी गांगे री धारौ, पृष्ठ ६१, गज़ल।
4. गिरी गांगे री धारौ, पृष्ठ १५०, कविता।
5. गिरी गांगे री धारौ, पृष्ठ १५१, कविता।
6. गिरी गांगे री धारौ, पृष्ठ ६६, गीत।

भविष्य की भाषा में नये दौर की कविता का कवि–'हिमेश' :

शिमला के निकट ही मशोवरा के पास है गुम्मा गांव जहां हिमाचल के प्रतिनिधि साहित्यकारों में एक, हिन्दी के सशक्त कहानीकार एवं कवि रत्न सिंह 'हिमेश' ने जन्म लिया। हिमेश उन इने गिने हिमाचली लेखकों में हैं जो अंग्रेजी में भी अच्छी रचना करते हैं। इनके अंग्रेजी गद्य की विशेष सराहना हुई है। विद्यार्थी जीवन में ही 1953 में पहला मासिक पत्र 'तरुण' निकाला और उसके बाद साप्ताहिक पत्रिका 'हिमज्योति' का सम्पादन भी किया। तब से ही निरन्तर साहित्य सृजन करते आ रहे हैं। इनकी रचनाएं प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित तथा आकाशवाणी से प्रसारित होती रही है हिमेश नेपहाड़ी में रचना की है इस लिए पहाड़ी कविता के सन्दर्भ में भी इनका प्रसंग आता है।

लम्बे अरसे से हिमेश हिमाचल प्रदेश सरकार के कृषि विभाग में कृषि सूचना अधिकारी के पद पर कार्यरत हैं। हिमाचल के विभिन्न क्षेत्रों के दौरे के बाद जब शिमला पहुंचते हैं तो मुंह में पान दबाए, कन्धे पर थैला लटकाए विशेष व्यक्तित्व में साहित्यकार हिमेश जब माल से गुजरते हैं तो दोस्तों का उनसे सही मानों में टाकरा होता है। टाकरा से मेरा मतलब उस टकराहट से है जिससे कुछ ऐसा ठहाका निकलता है कि आती-जाती भीड़ के लिए भी आकर्षण बन जाता है। मिलते ही मुंह से निकले पहले वाक्य के शब्दों को लेकर ही हिमेश एक दिलचस्प बहस छेड़ देते हैं जो बढ़ती चली जाती है। बहुत बार हिमाचल की विभिन्न बोलियों के ठेठ शब्द भी बहस के घेरे में आ जाते हैं। भाषा के मामले में हिमेश शब्द-शरीर से लेकर वाक्य विन्यास तक विशेष सतर्कता रखते है और यही उनके लेखन का चमत्कार बन जाता है। भाषा के उचित प्रयोग के माध्यम से ही लेखक या कवि अपने भावों को चमत्कार पूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान कर सकता है।

अपनी पहाड़ी कविता की भाषा के सन्दर्भ में हिमेश ने स्वयं लिखा है कि उनके एक मित्र ने एक बार कहा था—हिमेश तुम्हारी भाषा में 'कुछ वह' नहीं है।[1] इस 'कुछ वह' का मतलब समझते हुए हिमेश ने जानबूझ कर यह भ्रम दिखाया है कि जो एक सीधी-सादी, सुरम्य और साफ कविता की भाषा में होना चाहिए वह उसकी भाषा में नहीं है। लेकिन उस 'कुछ वह' के न होने का तात्पर्य शायद यह है कि हिमेश की भाषा में ठेठ क्षेत्रीय व खुरदरे शब्दों, भावों के प्रवाह को रोकती पदावली और संकीर्ण भाषाई क्षेत्रवाद या गांव-घाटीवाद का अभाव रहा है। हिमेश की रचनाओं को पढ़कर कहा जा सतता है कि उन्होंने भाषा का एक ऐसा सामंजस्य तैयार किया है जिसे पढ़ सुनकर जन-जातीय क्षेत्रों को छोड़ हिमाचल का कोई भी निवासी न तो यह मान सकता है कि यह शत प्रतिशत मेरी मां की भाषा है और न यह कह सकता है कि यह मेरी मातृ-भाषा नहीं। छोटी-छोटी बोलियों वाले क्षेत्र को भाषाई एकरूपता में बांधने के लिए ऐसा करना नितांत जरूरी है। इस संदर्भ में हिमेश ने स्वयं स्वीकारा है कि वह पनपती हुई पहाडी भाषा में सौ साल या कम से कम पचास साल बाद का पैंवन्द लगाना चाहता है।[2] इस पर अमल करते हुए भविष्य

1. शोध पत्रावली, भाग–३, पृष्ठ ७६, पहाड़ी कविता–एक समीक्षा।
2. शोध पत्रावली भाग-३, पृष्ठ-७६, पहाड़ी कविता-एक समीक्षा।

की भाषा में नये दौर की कविता करने में उन्हें भरपूर सफलता भी मिली है। हिमेश के पास यदि भाषा है तो सही मानों में जीनियस कवि के भाव भी हैं। एक गज़ल में पीने पिलाने की बात यों कही है :

पिछलेया जन्मा दे पी आसे इतणी,
याद करी इबे मेरा काम सरी जांदा।[1]

इसी गज़ल में कवि ने अपनी मन पसन्द गद्दण की तलाश को यों व्यक्त किया है :

गद्दण इक सोचा री न पकड़ा दी आंदी,
मना रा ए गद्दी सोची मरी-मरी जांदा।[2]

लोग कहते हैं हिमेश का कवि कई बार उच्छृंखल हो उठता है लेकिन जरूर वह उनके मन का गद्दी होगा। जिसे गद्दण मिली या न मिली, आखिर कोई तो जरूर मिली जिस के सामने दिल का दर्द रोने और जीवन का चोला मिलकर सिलने जैसा प्रस्ताव यों रखा है :

मनां रीयां बिबतां जे सुणी लो,
असां फिरी होठा जाई सी लेंगे,
जिन्दड़ी चोला मिली सी लेंगे।[3]

जब कवि के मन की विपदा और मिलकर जीवन का चोला सिलने वाली बात पीछे रह गई मात्र होंठ सिलने की नौबत आने लगी तो फिर से जिन्दगी पीने-पिलाने पर आ गई :

थोड़ी जी मैं पी लई, जिन्दड़ी सै जी लई,
आहो जी, मैं आंदे-आंदे थोड़ी जेई पी लई।[4]

यह रहा हिमेश की गज़ल का चमत्कार। इसी प्रकार 'नवी सुल्लह', 'कुकरमुते' और 'छोड़-छोड़ जाओ मेरी प्यारी नदियो' कविताएं नये दौर की अच्छी रचनाएं हैं। 'लहू रा रंग' कविता में कविता का रंग देखिए :

तेस लोहूआ रा ता
रंग कुछ होर था,
ढंग कुछ होर था।
असारे शहीद जे,
लहुआ बहाई करी,

---

1. काव्य धारा भाग-२, पृष्ठ-१२२, गज़ल।
2. काव्य धारा भाग-२, पृष्ठ-१२२, गज़ल।
3. काव्य धारा भाग-१, पृष्ठ-५६, गज़ल।
4. काव्य धारा, भाग-३, पृष्ठ ५५, जिंदड़ी।

धरती के भितरो-
न रग-रंड करदे,
ललमुंग्रा जौनबुल
डरी कदी भागदा ?[1]

कहते हैं भाषा बनाई नहीं जाती, वह बनती जाती है। लेकिन उसका बनना भी यदि साहित्यिक भाषा के रूप में अपेक्षित हो तो हिमेश जैसे प्रतिभा सम्पन्न रचनाकार का उसमें योग होना जरूरी है।

इधर हिमेश ने इन दिनों अपना लेखन ही कम कर दिया है और पहाड़ी के मामले में तो जैसे मुंह फेर दिया हो। लेकिन फिर भी इनके असंख्य पाठक तब-तब कुछ आश्वस्त हुए लगते हैं जब गिरिराज में 'ठुणिया नामा' की किश्त छपती है जिसमें हिन्दी के धारदार वाक्यों के साथ सम्वादों में माटी की गंध भरी पहाड़ी की बानगी भी देखी जा सकती है।

विरह का गायक कवि-ललित :

गांव पौड़ियां, चौपाल में जन्में युवा कवि सी०आर०बी० ललित ने सतरह वर्ष की आयु में ही कविता रचना शुरू कर दी थी। उनके प्रथम हिन्दी काव्य संग्रह 'उन्मुक्त स्वर' की पाठकों ने भरपूर सहराना की। दूसरा काव्य संग्रह पहाड़ी में प्रकाशित हुआ 'जुएणौ दे आशू'। इसके अतिरिक्त हिम भारती के कुछ अंको तथा काव्य धारा भाग-३ में भी ललित की रचनाएं छपी हैं। कविता के अतिरिक्त लेख एवं निबन्धादि भी लिखे हैं लेकिन ललित मूलतः कवि हैं।

ललित की कविता से पहले कवि के बारे में कुछ कह लिया जाए। शिमला में ही माल पर ललित के दर्शन अक्सर होते हैं तो सौम्य चेहरा लिए एक सजा संवरा संतुलित व्यक्तित्व पहले नमस्कार की मुद्रा में मुस्करा कर दोनों हाथ जोड़ता है और उसके बाद आत्मीयता से हाथ मिलाने को बढ़ता है। जब शुरू हुआ बातचीत का दौर, गम्भीर से गम्भीर विषय पर चर्चा के मध्य भी सरसता और सहजता निरन्तर बनी रहेगी। हां साहब, मैं एच०ए०एस० आफिसर ललित की बात कर रहा हूं जो 'आफिसर' होने से पहले एक सरल एवं विनम्र इन्सान है। ललित ने इससे पूर्व भी सरकारी नौकरी की और शिमला तथा लाहौल में काफी समय गुजारा है।

ललित की कविता की बात 'जुएणौ रे आशू' काव्य संग्रह में कवि के इस आत्म कथ्य से ही शुरु की जाए, "लाहौल में साढ़े छः वर्ष के प्रवास काल में मैंने स्वयं विरह दग्ध यौवन-पुष्प पर झरते चन्द्रमा के आंसुओं की मिठास को अनुभव किया है इसी अनुभूति को पाठकों तक पहुंचाने का इस संग्रह में प्रयास किया है।' उनके इस कथन के अनुसार ही इस काव्य संग्रह में यौवन की मदकता में विरह के क्षणों को वास्तविक अभिव्यक्ति मिली है। विरह वेदना जब चरम सीमा तक पहुंच जाती है तो कवि गज़ल में स्पष्ट कह डालता है :

1. काव्य धारा, भाग-दो, पृष्ठ १२६, लहू रा रंग।

ठणका जवानी रा ओ, पाणी रे फफोले न्हौंरा,
आजदा नी भाजदा ए औषते हजार करौ ।[1]

यहां ठणका शब्द की ठणक एक ओर गजल की मासूमियत को भले ही खुरदरा करती है दूसरी ओर शुद्ध लोक अभिव्यक्ति की महक से भरपूर भी है । कवि आगे कहता है :

आज मेरा जीउ एबै काबू दा ना रहे सकौ ।
एकी पल बी ना पीड़ा विरहा रे सहे सकौ ।[2]

बात प्रेयसी की आती है तो प्यार के फूटने पनपने की अतीत की कहानी याद आ जाती है :

पीपलौ मुलं बावड़ी घाटे, असा रा प्यार पलदा लागा ।[3]

निसन्देह पीपल की छांव और पनघट पर पलता प्यार सजीव हो उठा है । विरही कवि को अब स्वप्न में प्रेमिका के दर्शन होते हैं तो लाहौल में बैठे-बैठे दूर चौपाल स्थित प्रेयसी की तस्वीर शब्दों में उतर आती है :

हिज तू बांठणे सुएणै मिलै, गले दे हांसले नाकौ दे तिले ।
सुने रे गौखड़ू मोती रे कांटे, पीउंले डाठूदे छेबकू नीले ।
गालटी दुधिया होंठ गूलाबी, मनौरे बागौ दे फूलड़ू खिले ।[4]

मन रूपी बाग में विरह के फूल खिले तो कवि समझ गया कि मेरा वियोग कविता में उतर आया है और क्रेडिट प्रेयसी को देना स्वाभाविक ही था :

मौंएं लाख-लाख गीत तेरै नौएणी दु लिखे ।
मौंएं केती-केती भाव तेरी भउंआं शिखै ।[5]

ललित की कविता में विरह के जो भाव उभरे हैं वे सहज सराहनीय हैं । इसके अतिरिक्त 'गोबरौ रे घिलै गाशै' कविता में नवयौवना वधु की पहाड़ों की चढ़ाई उतराई में घोर परिश्रम से तंग होकर सास के सामने कुछ लाडली और अल्लहड़ अभिव्यक्ति सुन्दर बन पड़ी है तथा 'दाचटी पलांवदे' में फसल व घास आदि काटने को निकलने वाली गृहणी का रोचक चित्रण हुआ है । 'बिशु' कविता में मेले का सुन्दर वर्णन यों किया है :

बाजे ढाकिये बिशुरे नाटे, इयाणे शरिये जुवड़ू माटे ।
दीतै ध्याण्टीयं पीगौ झलारे, बाजै जुबड़ी ढोल नगारे ।[6]

बजन्त्रियों द्वारा बजायी गई बिशु की धुन पर ठोडा खेलने वालों के शरों से मैदान की धूल का उड़ना दूसरे छोर पर नव-यौवनाओं का झूला झूलना और ढोल नगारों की डम-डमाहट, यह सब

---

1. जुएणौ रे आशू, पृष्ठ-६५, गज़ल ।
2. जुएणौ रे आशू, पृष्ठ १६, चूड़ियौ रे छन-छन ।
3. जुएणौ रे आशू, पृष्ठ ११, आसा रा प्यार ।
4. जुएणौ रे आशू, पृष्ठ २८, हिज तू बांठणै ।
5. जुएणौ रे आशू, पृष्ठ ३०, जुएणौ रे आशू ।
6. जुएणौ रे आशू, पृष्ठ ३७, बिशू ।

पहाड़ी क्षेत्रों के पारम्परिक मेलों की तस्वीर ही तो है। इस प्रकार अधिकतर रचनाएं पहाड़ी क्षेत्र से प्रेरित हैं, शब्दों तथा प्रतीकों आदि का चयन भी माटी की गन्ध से युक्त है भले ही अकवितामय शब्दों के प्रयोग से नहीं बचा जा सका। तुकबन्दी या छन्द के लोभ में ऐसे शब्दों का प्रयोग जान-बूझकर किया लगता है और बहुत बार लोक भाव को सवारे रखने के उद्देश्य से भी।

अन्य पहाड़ी कवियों की भान्ति ललित ने भी हिमाचल के रमणीय स्थानों, जंगलों से भरे पहाडों, बहती नदियों और गिरते झरनों के गीत गाये हैं। सामयिक विकास क्रम, घटनाओं एवं समस्याओं का भी जिक्र कविता में हुआ है, लेकिन ऐसी कविताओं में कवित्व पीछे रह जाता है और वह विषय वर्णन या प्रचार प्रधान हो जाती हैं, या यों कहिए कि ऐसा होने से कविता विवर्णिका बन जाती है और उसका साहित्यिक महत्व नहीं रह जाता।

कुल मिलाकर ललित का विरही कवि काफी सफल रहा है। जिसके लिए उन्होंने लाहौल का प्रवास कारण ठहराया है। एच०ए०एस० बनने के बाद उन्होंने स्पीति यानि काज़ा को चुना है। शायद उस विरह की पुनः स्थापना के लिए जिसमें उनकी कविता के बीज निहित हैं। देखना यह है कि लाहौल की अपेक्षा स्पिति घाटी उन बीजों को किस कदर उपजाती है और प्रशासनिक माहौल में पनपते खरपतवारों में कवि की कविता-लता कहां तक पुष्प-फल समन्वित हो पाती है। पिछले काफी अरसे से रचना धर्मिता के प्रति उदासीन ललित से जन-जातीय क्षेत्रों में वेजिटेशन योजना के साथ अपने भीतर के कवि को पुनः वेजिटेटिव बनाने का आग्रह करना मित्रधर्मिता के नाते कर्त्तव्य नहीं बन जाता?

कण्ठ का कमाल—किरण :

पहाड़ी कवि या कविता की जब भी बात चली जयदेव 'किरण' का नाम 'पात्थरो रे माण्हू' के कवि के रूप में सामने आता रहा है। सोलन जिला की नालागढ़ तहसील के चौलाना गांव में एक गोरखा परिवार से सम्बन्धित आर्मी आफिसर के घर किरण का जन्म हुआ। नेपाली तथा हिन्दी में भी रचना करते हैं और पहाड़ी कवि के रूप में प्रसिद्ध हुए हैं। सम्प्रति हिमाचल प्रदेश स्वास्थ्य विभाग में सहायक प्रचार अधिकारी के पद पर कार्यरत किरण को बगल में छोटा बस्ता दबाए कभी कभार शिमला की मुख्य सड़कों पर गुजरते देखा जा सकता है, रोज घूमने का शौक शायद इन्होंने नहीं पाला। जहां तक पहाड़ी कविता के मंच का प्रश्न है, प्रदेश के किसी भी कोने में होने वाले कवि सम्मेलन में इनकी उपस्थिति अक्सर रहती है और लोगों में किरण का सुरीला कण्ठ सुनने की इच्छा भी होती है।

अपनी चर्चित कवितासंग्रह 'पात्थरो रे माण्हू' के नाम पर ही किरण का पहाड़ी संग्रह छपा है, जिसमें पचास से अधिक रचनाएं हैं। इसके अतिरिक्त काव्य-धारा तथा हिम भारती आदि में भी रचनाएं प्रकाशित हुई हैं। 'पात्थरो रे माण्हू' संग्रह के विषय में स्व० रामकुमार काले जी ने लिखा है कि इसमें विकास और प्रगति की करवट लेता हुआ लोक जीवन भी है और श्रम के महत्व का आदर्श भी। निष्कर्ष के रूप में उन्होंने आगे लिखा है, 'यह संग्रह कवि का ऐसा प्रयास है जिसे

सराहा जाना चाहिए, खासकर ऐसी स्थिति में जबकि अभी पहाड़ी भाषा अपने लिए अभिव्यक्तियां तराश रही है, पहाड़ी साहित्य अपने लिए दिशा निर्धारित कर रहा है।[1] किरण की कविता की यही सही समीक्षा है। काले जी ने सराहना के लिए संग्रह को खोलते हुए 'खासकर' शब्द से जो कहना चाहा या कहा है उसे मंच पर तो कवि का कण्ठ सेव कर जाता है, रही पुस्तक में पढ़ने की बात वहां तो हर कवि अन्दर-बाहर नंगा हो जाता है।

किरण की सबसे प्रमुख कविता 'पात्थरो रे माण्हू'[2] को शुरु से अन्त तक पढ़ें तो हिमाचल के जिला मुख्यालयों, मेले त्यौहारों, देवी देवताओं के स्थानों की नामावलियों से लेकर गोरखे की खोखरी और बाघा-छम्ब सीमा तक की बात करते हुए नमस्कार की विधियों तक का वर्णन हुआ है। 'पात्थरो रे माण्हू' शीर्षक से सम्बन्धित जो पद कविता में आए हैं उनसे इसका तात्पर्य पत्थर जैसे मनुष्य, पत्थरों के बीच रहने वाले या कुछ हद तक पत्थर पूजने वाले भी हुआ है और जब कवि कहता है, **सारे लप्पे वाली गल पत्थर नी जाणदे** तो 'मनुष्य ही पत्थर' ऐसा भी कहा जा सकता है। लेकिन कवि ने अन्त में कविताओं के अर्थ भी दिऐ हैं, वहां पढ़कर पता चलता है कि इसका मतलब 'पत्थर के बीच रहने वाले मनुष्य'[3] निर्धारित है। माना **तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्** लेकिन भावों में बिखराव से काव्य-शिल्प की हानि होती ही है।

'जहां न पहुंचे रवि वहां पहुंचे कवि' वाली बात तो ठीक है, लेकिन इसके विपरीत 'जहां न पहुंचे कवि वहां पहुंचे रवि।' जैसी स्थिति आ जाती है तो कुछ उलझन सी होती ही है। किरण की कविताओं में बहुत बार ऐसे उलझाने वाले प्रयोग हुए हैं मसलन कुल्हा रा पहरा,[4] काण्डे नवें खिले[5], गोरी गोरी नदिया[6] आदि। उपमा का एक नमूना देखिए :

उड़ा जहाज जीयां बांकी बांकी तितली।[7]

नन्हीं जान मूक तितली की जगह भिन्न-भिन्नाने वाला भौंरा ही जोड़ दिया होता। 'हलो री बन्दूक' कविता की ये पंक्तियां आखिर क्या कहती हैं :

कोयलो री मीठी-मीठी कूक रे,
मेरे हलो री आड़ी रे बन्दूक रे।[8]

हां, जहां तक किरण की गज़लों व गीतों की गेयता है इसे सराहना ही होगा।

---

1. पात्थरो रे माण्हू–(भूमिका) 'रचना और रचयिता के प्रति' स्व० रामकुमार काले।
2. पात्थरो रे माण्हू–पृष्ठ ३, 'पात्थरो रे माण्हू'।
3. पात्थरो रे माण्हू–पृष्ठ ८२, परिशिष्ट (अर्थ)।
4. पात्थरो रे माण्हू–पृष्ठ ३३, 'नवीं सवेर'।
5. पात्थरो रे माण्हू–पृष्ठ १, 'सोयणा दशक'।
6. पात्थरो रे माण्हू–पृष्ठ ४८, 'संदेश्शा'।
7. पात्थरो रे माण्हू–पृष्ठ ३४, 'आजादी के पच्ची साल'।
8. पात्थरो रे माण्हू–पृष्ठ ४३, 'हलो री बन्दूक'।

'कन्त श्रावणा' तथा 'कुण म्हारी सुणो' आदि रचनाएं इस दृष्टि से अच्छी बनी है। 'खेत करसाण' कविता में प्रतीकों के संयोजन से भावों को सुन्दर अभिव्यक्ति मिली है :

खेतो रा पतरा, हलो री कलम, लिख आपणी तकदीर बणारे।
सुण वे मेरेया खेत कसाणिया, देशा री जिंदड़ी तेरे सहारे।[1]

'जवाना री शक्ति' कविता में दुश्मन के हथियार छोड़ भागने का शब्द चित्र अच्छा बना है :

दुश्मण आज हथियार इयां सिटदा.
दौड़ी कनें चूहा जीयां बिलिया सो दिखदा।[2]

किरण के भीतर का कवि सामयिकता के प्रति हमेशा सजग ही नहीं तत्पर भी रहा है। 1975 का भूकम्प और 1971 की बरसात हो या किन्नौर की कामरू पंचायत का श्रेष्ठ घोषित होना, किरण ने तुरन्त कविता रच डाली है। इसे किरण की अपने पेशे के प्रति ईमानदारी भी कहा जा सकता है। इसके इलावा पुलिस के रूल व होमगार्ड के जन्म से लेकर टांकामार कर्मचारियों जैसे विषयों पर भी कवि का कवित्व खामोश नहीं बैठ सका। 'कन्नौर लाहौल भुचाल' की ये पंक्तियां पीड़ितों को सांत्वना ही तो दे रही हैं :

फटी होई जिंदड़ी रा काम्बल सभी मिली के सीणा है।
खातर दुजे री जो जीन्दे से ही सच्चा जीणा है।[3]

किरण ने एक ओर गीतों और गज़लों में कोमल शब्दों को भी पिरोया है तो दूसरी ओर कई रचनाओं में अकवितामय शब्दों का भी प्रयोग किया है। पत्थर, कालजा और काण्डा जैसे शब्दों से लगाव अधिक रहा है और लगभग हर रचना में अपना नाम जोड़ने का लोभ भी पाला है। हां, बहुत बार ऐसा भी हुआ है कि कवि ने कहना कुछ चाहा है और कह कुछ और ही दिया है। 'परयाश्शा' शीर्षक वाला यह मुक्तक इसी मर्ज़ का मरीज है :

फसलो री लागी छींभ, तमाशा बणी गोई,
कुकड़ी खिली-खिली के दंदाशा बणी गोई।
मिटणें खे थी सभी री हावक्षी री जोत पर,
तेरे हलो री फाट परयाश्शा बणी गोई।[4]

फसलों की छींभ भी लगी, चलो तमाशा भी हुआ लेकिन मक्की खिली और दंदाश्शा (दातुन) बन गई यह डबल तमाशा कैसा ? यहां पुस्तक के अन्त में दिया गया अर्थ ही पढ़ने वालों का साथ दे

---

1. पात्थरो रे माण्हू–पृष्ठ २२, 'खेत करसान'।
2. पात्थरो रे माण्हू–पृष्ठ ४५, 'जवान्ना री शक्ति'।
3. पात्थरो रे माण्हू–पृष्ठ ८, 'किन्नौर लाहौल भूंचाल'।
4. पात्थरो रे माण्हू–पृष्ठ १६, 'परयाश्शा'।

सकता है जिसमें स्पष्ट किया है कि 'किसान तेरे खेत में मक्की इस तरह प्रतीत होती है जैसे किसी युवती के होंठ दातुन से पीले हो गये हों'[1] कविता में तो युवती के ये पीले होंठ अखरोट की जड़ में छिपे रहे और अर्थ में जाकर ही निकले, इससे यह भी कहा जा सकता है कि अर्थ के बिना किरण की कविता अधूरी है। शब्द और अर्थ के मध्य की ऐसी आंख मिचौनियों की भी किरण की कविता में छींफ देखी जा सकती। 'मना रा टकराव' कविता में कवि कहता हैः

या मन्दिर जा या मेले जा, दो तरफा दिल बेकार नी कर।
न ये मिलणे न से मिलणे, तू माटी अपणी खार नी कर।[2]

यहां कवि ने संदेश तो माटी को खार न करने का दिया है, लेकिन कविता में अपनी माटी ही तो खार हुई है। भला कैसे ? हिमाचल की माटी पर मन्दिर के प्रांगण में ही अधिकतर मेले लगते हैं। मन्दिरों और मेलों का अधिकतर साथ देखा जा सकता है, फिर मेले और मन्दिर दोतरफा कैसे ? फिर भी कवि की कविता के प्रति प्यार की भावना की सराहना करनी होगी :

कविता ते दूर न जा, कविता ते प्यार कर।[3]

किरण की कविता में एक प्रकार का द्वन्द्व देखा जा सकता है। उसके भीतर का कवि और पेशे का प्रचार अधिकारी साथ-साथ चलते हैं। कभी कवि प्रचार की बात करता है तो कभी प्रचार अधिकारी कविता करने लगता है। इन दोनों से ऊपर है किरण का कण्ठ और पहाड़ी कविता के लिए उसका सीधा समर्पण। सम्भवतः इसी को दृष्टि में रखते हुए संग्रह की समीक्षा (?) के रूप में आवरण के तीसरे पृष्ठ में राजकवि प्रो० परमानन्द शर्मा ने लिखा है, 'यदि कविता के सम्बन्ध में **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** की परिभाषा सत्य है तो निसंकोच किरण जी की रचनाएं सरस सुन्दर काव्य कृतियां हैं।' आचार्य विश्वानाथ के उक्त काव्य लक्षण को दाव पर लगाने से पहले **शून्य वास गृहम्** .. ' जैसी अभिव्यंजना को तलाशने की जरूरत शायद उन्होंने नहीं समझी।

किरण की लयात्मक रचना और सुरीले कण्ठ का कमाल पहाड़ी कविता के मंच की रौनक रहेगी ही।

विभिन्न रंगों की कविता का कवि– अरुण :

जिला सोलन के कुनिहार गांव में जन्में नरेन्द्र 'अरुण' का नाम भी पहाड़ी के प्रमुख कवियों में गिना जाता है। अरुण ने हिन्दी में भी रचना की है। पहाड़ी कविताओं का संग्रह 'रंग बरंगे फुल्ल' प्रकाशित हुआ है। जिसमें छोटी बड़ी नब्बे के लगभग रचनाएं विभिन्न रंगों की आभा लिए हैं। इसके अतिरिक्त नाटक लेखन में भी अरुण की विशेष रुचि और पकड़ रही है। इनके लिखे हिन्दी एकांकी संग्रह 'बलिदान' तथा पहाड़ी एकांकी संग्रह 'लद्दाखा कनारे' की काफी सराहना हुई है।

---

1. पात्थरो रे माण्हू–पृष्ठ ८५, परिशिष्ट (अर्थ)।
2. पात्थरो रे माण्हू–पृष्ठ ६६, 'मना रा टकराव'।
3. पात्थरो रे माण्हू–पृष्ठ ५, 'घरो फरे जो'।

पहले परिचय में ही सहज मुस्कान के साथ घुल-मिल जाना मिलनसार इन्सान अरुण का स्वभाव रहा है। अरुण ऐसे लोगों में शामिल हैं जिन्होंने लगन और परिश्रम के बल पर अपनी प्रतिभा को आगे बढ़ाया है। सबसे पहले पुलिस में नौकरी की उसके बाद कुछ दिनों तक हिमाचल कला, संस्कृति एवं भाषा अकादमी में भी काम किया। साहित्य सृजन तथा विद्योपार्जन साथ-साथ चलता रहा। बाद में हिमाचल प्रदेश शिक्षा विभाग में कालेज के हिन्दी प्राध्यापक के पद पर नियुक्ति हुई। सम्प्रति राजकीय महाविद्यालय सोलन में हैं। इधर कुछ अरसे से साहित्य रचना के प्रति उदासीन देखे गये तो पता चला कि डॉक्टरेट के लिए शोध-कार्य में जुटे हैं।

अरुण की पहाड़ी कविता को विभिन्न वादों का समाहार भी कहा जाता है लेकिन वादों का विवाद खड़ा न करते हुए यह कहा जा सकता है कि उनकी कविता के विभिन्न रंग सांस्कृतिक विघटन के प्रति आक्रोश, प्राकृतिक सौन्दर्य तथा समसामयिक विकासक्रम को लेकर उभरे हैं और राष्ट्र-प्रेम, स्वातन्त्र्य रक्षा की भावना, सामाजिक चेतना तथा राजनैतिक उत्थान की रंगत भी संजोये हुए हैं।

माड्रन रामायण, शिमले रे माली पाएं, माला पाएं माल, लाज होर पत : लाजपत तथा पटरानी (हिमाचल क्वीन) आदि रचनाओं में कवि ने पनपती पाश्चात्य संस्कृति की बेधड़क 'छील' की है। ऐसा करते हुए कवि के तीखे प्रहारों की शिकार अक्सर महिलाएं हुई हैं, जिनके लिए फिफड़ियां, फुलझड़ियां और पटाखड़ियां जैसे शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। 'माला पाएं माल' कविता में माल शब्द तथा 'पटरानी' में आऊट आफ डेट जैसे शब्द प्रयोगों में न जाने कवि ने क्या बेहतरी समझी है! ऐसी रचनाओं में नंग-बड़िगा, थोबड़ा, शटापट, फटाफट जैसे शब्दों का प्रयोग भी बड़े चाव से हुआ है। माड्रन रामायण के एक पद का पाठ देखिए :

कलिजुगो री माड्रन सीता, खस्मा ओ गलांदी भाई।
कलिजुगे री माड्रन ब्यूटी, घर-घर पीन्दी पाणी।[1]

पाश्चात्य सभ्यता में पलती माड्रन ब्यूटी के आचार व्यवहार, 'फिट कुर्ती' व 'बैलबाटम' पर कविता करने हेतु कवि ने 'पिकनिक' में नाल देहरा तथा 'कुलाचार' में सैंडबीडज़ कालिज के प्रांगण तक की सैर की है; इस बीच नौबत यहां तक आई है कि मिनी स्कर्टस पर स्वयं कवि अधीर हो उठा है :

ये मिनी स्कर्टस—
जिना पांए आयी जाओ
सभनि रा जीऊ
क्या याणेया रा, क्या स्याणेया रा।[2]

---

1. रंगबरंगे फुल्ल–पृष्ठ २१।
2. रंगबरंगे फुल्ल–पृष्ठ ४७, 'शिमले रे माला पांए', कविता।

ऐसी रचनाओं को मंच पर पढ़ने से कवि तात्कालिक कहकहा सुन कर अपने में सन्तुष्ट हो जाये तो अलग बात है और यदि यह मानता हो कि साहित्य या पहाड़ी के सन्दर्भ में भाषा को ऐसी रचना से वह कुछ दे रहा है तो यह उसका भ्रम है। जिस सांस्कृतिक ह्रास का विरोध करने के लिए कवि ने रचना की यह शैली अपनाई है, आधुनिक फिल्मों की भान्ति यह उसी की प्रचार सामग्री बन जाती है। इसके विपरीत कवि ने उस आदर्श की स्थापना की ओर ध्यान नहीं दिया जिसके ह्रास का विरोध करना उसका लक्ष्य है। शिमला का माल रोड़ कवि की ऐसी रचनाओं का केन्द्र रहा है। फिल्मों तथा फिल्मी हिरोइनों के नाम भी इस बीच चर्चित हुए हैं और 'डेविको' की पैंतीस पौड़ियां भी कवि ने गिनी हैं। इसके विपरीत इसी शिमला की गली-गली में चढ़ती-उतरती उन असंख्या पौड़ियों की ओर कवि का ध्यान नहीं गया जिन पर क्विटलों का बोझ उठाते कुली दिन रात चढ़ते उतरते हैं और भारी भरकम रईस असमर्थ देखे जाते हैं। रही पहाड़ियों की ढलानों पर सीढ़ीनुमा खेतों में गुजर-बसर करते ग्रामीण जन-जीवन की बात इसे कवि ने अपनी कविता का विषय बनाना शायद जरूरी नहीं समझा।

हिमाचल के प्राकृतिक सौन्दर्य को लेकर कवि की एक कुल्लू शैर, सुइणा हिमाचल, कुनिहार जैसी रचनाएं हैं। 'एक कुल्लू शैर' में कुलवी युवती का वर्णन सुन्दर बन पड़ा है :

कुछ कुलाचारा (कलचर) रीया रखवालिया,
मतवालिया भोलिया भालिया,
नक्का च बलाको बेसर हर लौंग,
कना दे पहनो लशलश करदी बालियां,
जिनां देखी सुपने सुख मिलदा
फुल जा खिलदा ए कुल्लू शैर।[1]

मेरिए राणिए, खटनालिया, रेणुका रा मेला, स्नेहा तथा याद अरुण की ऐसी रचनाएं हैं जिनमें प्रेमिका के प्रति प्यार भरा सम्बोधन लय के साथ हुआ है और 'नान्नी' कविता में बूढ़ी नानी के 'टुण्डू-मुण्डू' और चलने फिरने का सजीव चित्रन देखा जा सकता है। मुलख आपणा जगाणा ए, समै सुणा जा, तेरमेर तथा एस जमाने री रीत क्या आदि अनेक रचनाएं सामयिक विकास गति और सामाजिक चेतना को लेकर अच्छी बनी हैं। गांधी रे सुपणे, लाल बहादुर, गुरु नानक तथा इन्दिरा जी इन शीर्षकों से भी अरुण ने कविताएं लिखी हैं लेकिन स्व० लाल बहादुर शास्त्री जी के 'जय जवान जय किसान' नारे का इनकी रचनाओं में काफी प्रभाव देखा जा सकता है। इसमें भी जय जवान वाला पक्ष अधिक वर्णित हुआ है।

राष्ट्र-प्रेम और स्वातन्त्र्य रक्षा की भावना से प्रेरित इनकी रचनाएं प्रवाहमयी और प्रभावशाली हैं। ऐसी रचनाओं में कवि सर्वाधिक सफल रहा है यह कहना अनुचित न होगा। 'महाकाला री ज्वाला' शीर्षक से कवि कहता है :

---

1. रंग वरंगे फुल्ल–पृष्ठ ६६।

कुछ महाकाला री ज्वाला दे मधुमास मनाणा नि भुलदे,
कुछ माटिया ते सुईना करिऐ नवे फुल खलयाणा नि भुलदे।
नवे निर्माणा रे कल्पित सुपणे एकवखो भरो हाखिया दे,
कुछ अपणे लऊ वारे पले सभी इतिहास बणाणा नि भुलदे।[1]

अरुण की ऐसी रचनाएं देश गान और वीर गान के रूप में खूब प्रचलित हुई हैंऔर लोक-तत्वों से युक्त गेय रचनाएं लोक-गीतों के साथ गाई जाने लगी हैं। इस प्रकार अरुण ने सचमुच विभिन्न रंगों को लेकर अर्थात् रंगबिरंगी कविताएं लिखी हैं। बावजूद इसके वह स्वयं सन्तुष्ट नहीं है और गीतकार अरुण के समक्ष प्रश्नचिह्न यों उभरता है :

मेरे गीता दे पुखा रा डेरा, मेरे अपणे पेटा दे है नेहरा,
है खुशहालिया रा मरघट, मेरे घरा दे जमा रा डेरा।
हांऊ कीया गीत लिखूं।[2]

यह प्रश्नचिह्न कवि की कविता के नये रंग क प्रति आश्वस्त करता प्रतीत होता है।

संगीतज्ञ कवि– डॉ० काले :

सोलन के निकट एक छोटे से गांव तवा में डॉ० भीमदत्त काले का जन्म हुआ। इनके पिता ज्योतिष और कर्मकाण्ड के विद्वान थे। उनकी इच्छानुसार बनारस तथा लाहौर में संस्कृत का अध्ययन किया। बचपन से ही संगीत से अनुराग था और लाहौल में कलाकारों के सम्पर्क में आकर अध्ययन के बाद संगीत सीखने की ठानी। इसके लिए तत्कालीन अनेक प्रख्यात कलाकारों के द्वार देखने पड़े और अन्ततः ग्वालियर पहुंचने पर श्री राजा भैया के शिष्य बने तथा आठ वर्षों तक संगीत का अभ्यास किया।

इसी बीच अर्थ संकट से जूझते हुए तीस रुपये प्राप्त करने के उद्देश्य से झांसी के निकट ओरछा नरेश द्वारा वसंत पंचमी के अवसर पर आयोजित कवि समेलन के लिए सात पद्य लिखे। द्रुतविलम्बित छन्द में लिखित इन पद्यों को कवि-सम्मेलन में सराहा गया। उल्लेखनीय है कि इस सम्मेलन में राष्ट्र कवि मैथलीशरण गुप्त, रामकुमार वर्मा, कवि अजमेरी, तथा गया प्रसाद शुक्ल जैसे कवि भी शामिल थे। काले जी की कविता की शुरुआत शान से हुई कही जा सकती है।

इसके पश्चात् १९४१ से लाहौर में अध्यापन किया तथा प्रसिद्ध वेलावादक वरदराज नायडू से उच्चस्तरीय वादन-कला भी सीखी। १९४७ में देश के विभाजन के बाद शिमला में आ बसे। तब से हिमाचल प्रदेश में शास्त्रीय संगीत के प्रचार प्रसार में जुटे हैं। मिडल बाज़ार शिमला तथा प्रदेश के अन्य स्थानों पर स्थित काले कला-मन्दिर में असंख्य शिष्यों ने संगीत सीखा है और सीख

1. रंग वरंगे फुल्ल–पृष्ठ १३२।
2. रंग वरंगे फुल्ल–पृष्ठ १२८, 'कीयां गीत लिखूं', कविता।

रहे हैं। १९७७ में 'भारतीय लोक संगीत' विषय पर शोध करके आपने डॉक्टर ऑफ म्यूजिक की उपाधि प्राप्त की। शिमला में रहते हुए आपने महासूवी उपभाषा की क्योंथली तथा बघाटी बोलियों में भी लिखते रहे। पहाड़ी की अन्य रचनाओं के अतिरिक्त इनकी कविताएं काव्य-धारा तथा हिम भारती आदि में प्रकाशित हुई हैं।

काले जी की रचनाएं कल्पना और गेयता के लिए प्रसिद्ध हैं। इनकी भाषा भावपूर्ण और प्रवाहमयी है। 'बजोगण' कविता में वियोगी हृदय कुछ ऐसे धीरज रखने के प्रयास में है :

हो रे जड़ी काली साड़िए, रात परी सजी-धजी री,
जोहिणी री बिन्दी लाइरो, हौसला बधाओ लो मेरा।[1]

लेकिन आशा में जब निराशा होने लगती है तो कवि कहता है :

काली गेंदणे दे तारे चमके, दीवें आशा रे थे बाल़ें दे मेरें,
पता लाग दा नाछिपें किशकें, प्याशा देखुदा ना एबें तिनौंरा।[2]

रात के अंधेरे में चमकते तारों की तरह दिल में जलते आशा के दीप जब तारों के अस्त होने की भांति बुझने लगे तो कवि अधीर हो उठता है :

काल़ी रातौं बुरे भागौं री,
इशा शुणा था जे बणी उषा बी,
मुंकी रात नांई काले भागौं री।
तेल मुंकि गोआ दीवे रा,
एबे तुमें आओ भले ना,
दीवा विधणे खे चला जीयोरा।[3]

भावों के सुन्दर संयोजन के साथ 'काले भागौं री' पद में काले अर्थात् बुरे भाग्य या कवि काले के भाग्य ऐसे दोहरे भावों का सहज सम्मेलन भी हुआ है। इसके अतिरिक्त कवि काले का काव्य-शिल्प अन्य रचनाओं में भी सराहनीय रहा है। 'माठी जी लाड़ी'[4] कविता में बाल-विवाह की स्थिति में बालिका वधू की मनस्थिति का चित्रण हुआ है तथा 'किरपा जे होली तेरी'[5] भक्ति-प्रधान गेय रचना है।

कवि काले की 'केली' एक ऐसी रचना है जिसमें झोंपड़ी में निवास करने वाली एकाकिनी के दिल का दर्द यों फूटा है :

आपणा ना आया कोई, मति देखा एक बिना,
इयों चोटि छोन्दी शुनिकेली छानी हेठे कबें।
गाया कुणिये न गीत मेरे जीयो रा।[6]

1, 2, 3. हिम भारती-सितम्बर, १९७० पृष्ठ-२९, 'बजोगण', कविता।
4. काव्य धारा भाग-१, पृष्ठ १००।
5. काव्य-धारा भाग-२, पृष्ठ १५०।
6. काव्य धारा भाग-२, पृष्ठ १५२ 'केली', कविता।

इस स्थिति में एकाकिनी ने एक मात्र साधन कल्पना के बल पर अपने को हंसता करना चाहा तो क्रूर हाथों का शिकार हो गई :

कल्पना री कली मेरी हसगे खे आई जबे,
लोहे रे कि पात्थरो रे हाथ कोंए आए तबे,
तिनें किया इनों सोई जिशा-जिशा तिशा हाय,
जमों रे ही हाथ करी सको होरों कोंए ना ।[1]

काले जी की एकाकिनी की व्यथा आज हर झोंपड़ी की व्यथा बन कर रह गई है और क्रूर काले हाथों का शिकार होने पर यह हाल होना स्वाभाविक ही है :

शावणों री नदी बसो इनो बोई हाखी एबे,
काल्जे दे सिलगी दी तबे बिना बिददी ।[2]

इस प्रकार की रचनाओं में कवि मर्म भावों को सहज अभिव्यक्ति देने में सफल हुआ है। इनकी कविता में संस्कृत कविता की शैली तथा संगीत के ज्ञान का प्रभाव स्वभाविक ही है। काले जी संस्कृत में अच्छी कविता लिखते हैं। पहाड़ी के शब्दों को संस्कृत के शब्दों की भांति सही उच्चारण योग्य लिखने का इन्होंने प्रयास किया है ऐसा करते हुए वर्णों का अधिक प्रयोग भी हुआ है।

वयोवृद्ध काले जी से संगीत तथा साहित्य को अभी बहुत अपेक्षाएं हैं। श्वेत दाढी और पारम्परिक भारतीय वेशभूषा में कवि काले सम्मेलनों में मंच की शोभा बढ़ाते हैं इससे संदेह नहीं।

भाषा की सेवा के लिए कविता– प्रो० जसटा :

जिला शिमला की तहसील कोटखाई के बड़ेओं गांव में जन्मे प्रो० हरिराम जसटा मूलतः लेखक हैं। इन्होंने विभिन्न विषयों को लेकर एक दर्जन से अधिक पुस्तक लिखी है। इससे इन्हें हिमाचल के सब से अधिक लिखने वालों में जिना जा सकता है। प्रो० जसटा अंग्रेजी तथा हिन्दी के लेखक होने के साथ पहाड़ी के उन प्रमुख लेखको में से हैं जिन्होंने पहाड़ी को साहित्यिक भाषा के रूप में उभारने के लिए प्रारम्भिक प्रयत्न किए। जसटा जी ने पहाड़ी में एकांकी, लेख तथा कहानियां आदि लिखने के साथ कुछ कविताएं भी लिखी हैं। इनका कहना है कि ये कविताएं भाषा अर्थात् पहाड़ी भाषा की सेवा को दृष्टि में रखते हुए लिखी हैं। उन्होंने चाहे जिस उद्देश्य से लिखी हों आखिर कविताएं लिखी हैं जिनमें कुछ रचनाएं अच्छी बन पड़ी हैं। 'फूलड़ू आली बांठिण' कविता में कवि फूल चुनने वाली सुन्दरी को देख कुछ यों अधीर होकर कहता है :

देखणै कि तू बांठणिए फूलड़ू जाणी कूजै रो,
जेबी सजावै मेरी जिन्दगी मुंह न देखू दूजै रो।
लाम्बै कोटो असौ तेरै गाची रै फेरदै फेरै लो,
मुस्कुए तू हासि लागी नखरै देखणै तेरै लो ।[3]

1, 2. काव्य धारा भाग २, पृष्ठ १५२, 'केली', कविता।
3. हिम भारती, जून, 1973, पृष्ठ १४, कविता।

यह रचना पहाड़ों पर जंगलों में बनफशा के फूल चुनती पहाड़ी नवयौवना की तस्वीर उतारती हुई माला नृत्य के लिए गेय बनी है। 'जात्रू' कविता में कवि ने कल्पना के सहारे भावों का सुन्दर संयोजन प्रस्तुत किया है। कवि पर्वतों के विकट मार्गों में झूरी (नायिका) को ढूंढता फिरता है, कल्पना में खो जाता है और आखिर मन का भेद यों कहता है :

इनी अनजान ओपरी बाटी रा जात्रू
मेरा जीव्—
तेरी प्रीतौ दा भेसु बादौ।[1]

प्रो० जसटा ने रौबर्ट फ्रस्ट की कविता 'स्टापिंग बाई दी वुड आन ए स्नोई ईवनिंग' तथा वर्डसवर्थ की 'सोलिटरी रीपर' पहाड़ी में सुन्दर रूपान्तर भी किया है। 'सोलिटरी रीपर' का 'एकली लवणे आली' के रूप में वर्णन करते हुए यह पद्य देखिए :

एकली काटौ, एकली बानौ,
गाओ सँ आपणै बेरूरे गानौ।
कानड़् लायिओ शुणोला कोई,
केहरी बांठणो गीतौ दी खोई।[2]

यहां पद्य की अन्तिम दो पंक्तियां अधिक सुन्दर बन पड़ी हैं। इस प्रकार जसटा जी की रचनाएं केवल भाषा के लिए न रहकर कविता के लिए भी हो गई हैं इसमें संशय नहीं। लोक-गीतों की बानगी इनकी रचनाओं में झलकती है और भाषा में ण के स्थान पर न का प्रयोग बहुत जगह हुआ है।

शिक्षा विभाग की त्रैमासिकी 'हिम शिक्षा' के सम्पादक जसटा जी अधिकतर शिमला में ही रहते हैं। आध्यात्यिक अध्ययन, चिन्तन के अतिरिक्त विभिन्न विषयों को लेकर लिखते ही रहते हैं। वैसे तो संजौली स्थित निवास का वातावरण भी लगभग पहाड़ी ग्रामीणता से प्रभावित है लेकिन फिर भी जब गांव जाना होता है तो शुद्ध ग्रामीण सोच को लेकर जो भाव मस्तिष्क में उभरते हैं उन्हें कविता में उतारना या लेख से बांधना नहीं भूलते। पहाड़ी भाषा की सेवा के सन्दर्भ में तो विशेष रूप से ऐसा करना अपना फर्ज समझते रहे हैं।

कुछ और भी नाम हैं :

महासूवी उपभाषा की कविता के क्षेत्र में कुछ और कवियों के नाम भी उल्लेखनीय हैं जो छुट पुट रूप से लिखते रहे हैं। कोटखाई तहसील से सम्बन्ध रखने वाले कवि हरदयाल सिंह चौहान की रचनाओं में पर्वतीय संस्कृति की वास्तविक झलक मिलती है। उनकी प्रसिद्ध कविता 'आंतौ औसू ठेठ पहाड़ी' में पर्वतीय संस्कृति में मानव धर्म का बखान यों हुआ है :

---

1. हिम भारती–मार्च, १९७५, पृष्ठ २३ 'जात्रू', कविता।
2. हिम भारती–दिसम्बर, १९७१, पृष्ठ ९, बर्फो री फीरी जांगलो दा।

के जै सनातनी के जै समाजी,
मेरे हुंदी च ई बादै राज़ी ।
मोंए चाणा शुदी धर्मो एती,
आपु सांई जाणु माणि छो जेती ।[1]

सर्दियों में जब पहाड़ वर्फ से ढक जाते हैं, घर बैठे खाने पीने और मौज मेले के अवसर होते हैं तो मांस और मदिरा का मौसम होता है, इसी मौसम की मस्ती को कविता में यों उतारा है :

शुनै रौ मेरै तीह त्योहार,
जांओं ना बणी लामणी चार ।
थोड़ा नशैदा झुपी भि जाऊ,
बांठणौ मांझै घुमी भि जाऊ ।[2]

कवि की यह रचना वास्तव में ठेठ पहाड़ी सोच से प्रेरित है । रोशन सुधाकर की रचनाएं भी आंचलिक परिवेश को लेकर सुन्दर बनी हैं । 'भोले भाले पहाड़ो रे बेटे' कविता में इस कवि ने पर्वत की सुन्दरी की मुख-शोभा का वर्णन यों किया है :

तारै मांझे शोभौ ज़िणा जूहणे रा टुकड़ा,
एणा बांको लागौ पहाड़ी छोहटी रा मुखड़ा ।[3]

जब वह सुन्दरी हाथ में दरांती लेकर घास या फसल काटने निकलती है तो कवि कह उठता है :

गोरे-गोरे हत्थड़ू दे बांके लागौ दाचीओ,
मुण्डो गाशै धाटू शोभौ कमरौ दे गाचीओ ।[4]

हिमाचल में संस्कृत के प्रतिनिधि कवियों में गिने जाने वाले प्रा० केशव शर्मा ने भी पहाड़ी में अच्छी रचना की है । जगदीश शर्मा का पहाड़ी काव्य संग्रह अकादमी की सहायतानुदान योजना के अन्तर्गत शीघ्र प्रकाश्य है । इनकी रचनाएं हिमभारती में भी प्रकाशित होती रही हैं । इसी योजना के अन्तर्गत तुलसी रमण अपनी बाल सुलभ रचनाओं के संग्रह को प्रकाशित करने में उदासीन बैठे हैं तो परमानन्द शास्त्री का श्रीमद्भगवद्गीता का पहाड़ी पद्यानुवाद भी प्रकाशित होने जा रहा है । रेडियो गायक लच्छीराम सलीम ने भी पहाड़ी में कविता रचना की है । हिमभारती दिसम्बर, १९७६ अंक में प्रकाशित 'वेदणी ओ आशु' में इस कवि ने ठेठ चौपालिया लहज़े में नायिका के प्रति अगाध प्रेम जतलाया है ।

इसके अतिरिक्त राधारमण शास्त्री, हरिवल्लभ शर्मा, कलावती जसटा, भाग्यवती शर्मा भाग्यचन्द्र सरकैक, तुलाराम, हुकमचन्द सरस्वती, प्रेमप्रकाश निहालटा, शान्ति बिष्ट, भुवनेश्वर सुमन तथा टीकाराम भारद्वाज आदि कवियों की पहाड़ी रचनाएं भी प्रकाशित अथवा प्रसारित होती रही हैं । महासूवी कविता को साहित्यिक स्तर प्रदान करने का दायित्व उक्त सभी कवियों के कंधों पर ही तो है ।

संस्कृत संयोजक,
भाषा एवं संस्कृति विभाग,
शिमला-१७१००२ ।

1., 2 हिम भारती, दिसम्बर, १९७१ ।
3. हिम भारती, जून, १९७२ ।
4. हिम भारती, जून, १९७२ ।

हिमाचल की आदिमजातियां
किन्नर

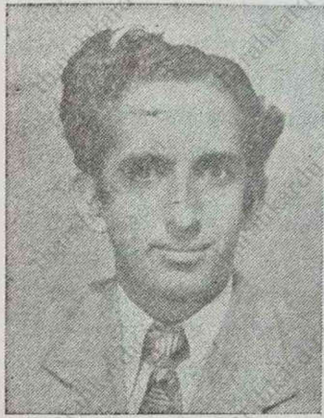

—डॉ० बंशीराम शर्मा

किन्नर जाति को संसार की उन कतिपय महत्वपूर्ण आदिम जातियों में गिना जा सकता है जिसका इतिहास व पुराण दोनों प्रकार के साहित्य से सम्बन्ध रहा है। भाषा-विदों ने इस क्षेत्र की बोली पर मुण्डा भाषाओं का प्रभाव बताया है परन्तु सांस्कृतिक अध्ययन के अन्तर्गत इससे भी अधिक रोचक तथ्य सामने आते हैं। बाणासुर तथा हिड़िम्बा की सन्तान असुर देवी-देवताओं की पूजा, रल्डङ् (स्वर्ग) की कल्पना, पितरों के नाम पर पर्वत-

शोध-समीक्षा-सार

[हिमाचल प्रदेश में अनेक अनुसन्धित्सु विविध विषयों एवं विधाओं पर डिग्री के लिए शोध करते हैं तथा डिग्री प्राप्त करने के उपरान्त उनके शोध-प्रबन्ध अप्रकाशित रह जाते हैं। उनके शोध के विषय में लोगों/अन्य पाठकों को जानकारी नहीं होती तथा अकादमी को भी उनके विषय में पूर्ण परिचय नहीं रहता। अतः निश्चय किया गया है कि हिमाचल प्रदेश के जिन व्यक्तियों ने एम० फिल० अथवा पी-एच० डी० की उपाधियों के लिए किसी भी विश्वविद्यालय के लिए कार्य किया है, उनके द्वारा प्रस्तुत शोध-प्रबन्धों के लगभग १५ पृष्ठों के सार-संक्षेप प्राप्त किए जाएं तथा उन्हें अकादमी की पत्रिका 'सोमसी' में प्रकाशित किया जाए। इसी सन्दर्भ में हम यहां पहली किश्त प्रकाशित कर रहे हैं।

—सम्पादक)

शिखरों पर कोटङ् (चबूतरे) बनाना, बहुपति प्रथा, लोक-भाषा में लिंग का अभाव तथा तीन वचनों की विद्यमानता, दक्षिणायन (उकरेणी) का त्यौहार, बूढ़ी दीवाली तथा माहङ् सोङा (माघ मास की १५वीं तिथि) के उत्सवों का प्रचलन, लोक-देवताओं का शीत ऋतु में स्वर्ग जाना और इस

आदिम जाति में प्रचलित 'तोशिम' की प्रथा आदि ऐसी महत्वपूर्ण कड़ियां हैं जो अनेक पौराणिक एवम् इतिहास सम्बन्धी गुत्थियों को सुलझाने में संकेत-चिह्नों का काम देती हैं।

किन्नौर हिमाचल प्रदेश का सीमावर्ती जिला है। प्रथम मई, १९६० ई० से पूर्व यह महासू जिले का एक भाग तथा उससे पूर्व रामपुर बुशहर रियासत की एक तहसील थी। इसके पूर्व में तिब्बत, दक्षिण में उत्तर प्रदेश का उत्तरकाशी क्षेत्र और शिमला जिला की रोहड़ू तहसील, दक्षिण-पश्चिम में शिमला जिला तथा पश्चिमोत्तर में कुल्लू तथा लाहुल-स्पिति के क्षेत्र स्थित हैं। सन् १९७१ की जनगणना के अनुसार इस क्षेत्र की जनसंख्या ४६,८३५ थी। इस जिले का क्षेत्रफल ६,५५३ वर्ग-किलोमीटर है। सांगला घाटी को छोड़ कर विशाल मैदान व समतल भूमि प्रायः नहीं है। अधिकांश गांव सतलुज, स्पीति तथा बास्पा नदियों के दोनों ओर पर्वतों की चढ़ाइयों में बसे हैं तथा पर्वत-शिखरों व पर्वत-मूलके बीच पड़ते हैं। गांव के अतिरिक्त किन्नरों की कृषि योग्य भूमि दो स्थानों पर होती है—एक तो 'रङ्' या कण्ढे (पर्वत) के पास चोटी से नीचे तथा दूसरे नदी के किनारों अथवा गांव से काफी नीचे। गांव के ऊपर की भूमि को 'कण्ढा' तथा नीचे की भूमि को 'न्योल' कहा जाता है। कण्ढे की भूमि की देखभाल करने के लिए किन्नर लोग पर्वत शिखरों के पास छोटे-छोटे मकान जिन्हें दोघरियां (शेन्नङ्) कहा जाता है, बनाते हैं तथा उस भूमि में कार्य करने के दिनों प्रायः वहीं रहते हैं। ऊपरि किन्नौर के हङरङ् क्षेत्र में वनस्पति का अभाव है और बरसात नहीं होती। इस क्षेत्र में वर्ष भर में एक ही फसल होती है जिसे सितम्बर–अक्तूबर में बो कर जून–जुलाई में काटा जाता है। कृषि के अतिरिक्त किन्नरों का मुख्य धन्धा भेड़ बकरी तथा अश्व पालन भी है।

नामकरण :

किन्नौर के अन्य नाम कनौर, कनावर, कूनावर, कुनावुर, कुनावर तथा कनौरिङ् भी हैं। तिब्बत वाले इस क्षेत्र को 'खुनू' कहते हैं। 'खुनू' या 'कुनू' का अर्थ पर्वत होता है। इस क्षेत्र में 'कुनू' नाम का एक गांव भी है जो तिब्बत की सीमा पर बसा है। सम्भव है इस गांव के नाम से कुनावर नाम का सम्बन्ध रहा हो।

किन्नर :

किन्नर को अर्द्ध देवयोनि माना गया है। वायुपुराण में महानील पर्वत पर किन्नरों का निवास-स्थान बताया गया है। कुछ विद्वानों का मत है कि गन्दर्व, किन्नर तथा यक्ष आदिम-जातियां थीं पर बाद में वे पौराणिक गाथाओं में इस रूप में प्रयुक्त न होकर पौराणिक देवयोनियों के रूप में प्रसिद्ध हुईं। कई विद्वान राक्षस, निशाध, किरात, गुह्यक, किम्पुरुष तथा किन्नरों को वन्य जातियों से सम्बन्धित मानते हैं। मत्स्यपुराण में राक्षस, पिशाच, यक्ष, विद्यधर, किन्नर तथा अप्सराएं हिमवान पर्वत के निवासी बताए गए हैं। किन्नरों को 'अश्वमुख' भी कहा गया है जो सम्भवतः 'अश्वपालक' होने के कारण ही है। हरिवंश पुराण में किन्नरियों को फूलों तथा पतों से शृंगार करते हुए बताया गया है। राजशेखर ने अपने ग्रन्थ काव्य-मीमांसा के लिखा है कि किन्नर व खस कार्तिकेय नगर में रहते थे। महाभारत के दिग्विजय पर्व में अर्जुन का किन्नरों के देश में जाना वर्णित है। इस वर्णन के अनुसार अर्जुन धवलगिरि को लांघ कर द्रुमपुत्र के

सोमसी

द्वारा सुरक्षित किम्पुरुष देश में गए जहां किन्नरों का निवास था। इसके पश्चात् उन्होंने हाटक देश पर आक्रमण किया और गुह्यकों को समझा बुझा कर वश में कर लिया। हाडक देश पर अधिकार के पश्चात् अर्जुन ने गन्धर्व देश को भी जीत लिया तथा उसके पश्चात् नागों के देश पर अधिकार करके वे मानसरोवर पहुंचे। इस विवरण से किन्नर देश का हिमालय में स्थित होने में संदेद नहीं रह जाता। जैन धर्म-ग्रन्थों में न्यून देव-योनियों का वर्गीकरण इस प्रकार दिया गया है :

१. पिशाच, २. भूत, ३. राक्षस, ४. किन्नर, ५. किम्पुरुष, ६. महोराग (नाग) और ७. गन्धर्व। बौद्ध धर्म-ग्रन्थों के अनुसार यह वर्गीकरण इस प्रकार है: १. देव, २. यक्ष, ३. नाग, ४. राक्षस, ५. गन्धर्व, ६. असुर, ७. गरुड़, ८. किन्नर तथा ९. महोराग। चन्द किन्नर जातक में बोधिसत्व के हिमालय प्रदेश में किन्नर-योनि में जन्म लेने की बात वर्णित है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि हमारे धर्म-ग्रन्थों में वर्णित किन्नर सशरीर विचरण करने वाली मानव-जाति थी जो वादन व गायन में प्रसिद्ध थी। हिन्दी विश्वकोष में किन्नरों के संस्कृत पर्यायवाची शब्दों में किम्पुरुष तुरंगवदन, मयु, अश्वमुख, गीतमोदी तथा हरिणनर्तक आदि गिनाए गए हैं। इनमें 'हरिणनर्तक' शब्द सांस्कृतिक दृष्टि से अतीव महत्वपूर्ण है। इसका सम्बन्ध वर्तमान समय में हिमाचल के अधिकांश क्षेत्रों में प्रचलित एक लोकनाट्य से है। इस लोकनाट्य को किन्नर-क्षेत्र में 'होरिङ्फो' शिमला क्षेत्र में 'हरण', चम्बा तथा कुल्लू में 'हरणात्तर', 'हरण्यात्तर' अथवा 'हरण' कहा जाता है। इसमें दो कलाकार इकट्ठे मिल कर एक जंगली जानवर का स्वांग प्रस्तुत करते हैं। इस 'जानवर' को लकड़ी के लम्बे सींग लगाए जाते हैं तथा 'हिरण' अथवा 'हरण' कहा जाता है। यह लोक काट्य विभिन्न स्थानों पर सर्दियों में लोगों के मनोरंजनार्थ प्रस्तुत किया जाता है। वायुपुराण में किन्नरों के पूर्वज 'अश्वमुख' नाम से अभिहित किए गए हैं। इस ग्रन्थ में किन्नर के अनेक गण बताए गए हैं तथा कहा गया है कि महादेव किरात के रूप में अवतरित हुए। इससे किन्नर तथा किरातों के सम्बन्धों अथवा उनके एक ही वर्ग से सम्बन्धित होने का पता चलता है।

पूर्वोक्त 'होरिङ्फो' अथवा 'हरणात्तर' लोकनाट्य के प्रचलन से पता चलता है कि प्रागैतिहासिक काल में किन्नर क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत था। पुराणों के अनुसार भी किन्नर हिमालय के अनेक वनों, यथा उमा वन, सर वन, क्रौंच वन, शैल वन आदि में रहते थे तथा उनके लगभग सौ शहर थे जिनमें प्रसिद्ध अधिपति राजा द्रुम, सुग्रीव, सैन्य, भगदत्त आदि राज्य करते थे। किन्नरों को पौराणिक युग में सम्मान प्राप्त था, यह बात उनसे सम्बन्धित संदर्भों से ज्ञात होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'किम्+नर' शब्दों का सम्बन्ध दो भाषाओं के अलग शब्दों से रहा है। 'किन्नर' शब्द 'पर्वतवासी' अथवा 'पर्वतीय व्यक्ति' जैसे अर्थ का द्योतक रहा हो तो आश्चर्य नहीं माना जाना चाहिए। सम्भव है तिब्बती भाषा के वर्तमान शब्द किम (घर) की तरह का कोई शब्द 'पर्वतीय' के अर्थ में हिमालय की किसी बोली में प्रचलित रहा हो जिसके साथ संस्कृत का 'नर' शब्द मिलकर कालान्तर में 'कुत्सित नर' अर्थ द्योतक भ्रांति का कारण बन गया हो। उत्तर कुरु का क्षेत्र 'परेण हिमवंतम्' अर्थात् हिमालय से परे स्थित था और वहां सब प्रकार की समृद्धि व्याप्त थी। बाणासुर इसी उत्तरकुरु अर्थात् पश्चिमी तिब्बत के गूगे प्रान्त में राज्य करता था। उसकी

राजधानी चपरङ् नामक स्थान पर थी, इसे 'चतरङ्' भी कहा जाता था। बाणासुर के राज्य का नाम 'चन्थङ्' था। 'गूगे चन्तरङ्' का संकेत बाणासुर के संदर्भ के साथ किन्नर लोक-गीतों से अब भी प्राप्त हो जाता है। एक गीत के अनुसार जब बाणासुर की भेंट हिरमा से हुई तो हिरमा (हिड़िम्बा) ने उससे पूछा—'आप कौन हैं ?' बाणासुर ने कहा—'मैं बाणासुर देव हूं।' उसने फिर पूछा—'आप कहां से आ रहे हैं ?' बाणासुर ने उत्तर दिया—'मैं गूगे चन्तरङ् से आ रहा हूं।' इसी प्रकार के प्रश्न के उत्तर में हिरमा ने कहा कि वह कुल्लू लाहुल से आ रही है। यहां यह उल्लेखनीय है कि बाणासुर व हिरमा ही वर्तमान किन्नर देवी-देवताओं के माता-पिता हैं।

किन्नरों को 'मयु' भी कहा गया है। 'मयु' का अर्थ 'मय वंश से सम्बन्धित' होना है। इसी कारण कतिपय विद्वानों ने उन्हे 'मायावी' शब्द से भी अभिहित किया है जो भ्रान्तिपूर्ण है। वास्तविकता तो यह है कि 'मय' नामक असुर एक शक्तिशाली योद्धा रहा है। मय संस्कृति भवन-निर्माण तथा कला के लिए प्रसिद्ध हो गई क्योंकि मय के उद्यान तथा भवन में प्रवेश करने वाला बाहर निकलने में असमर्थ हो जाता था। यह पौराणिक तथ्य है कि बाणासुर का सम्बन्ध मय वंश से था। वह बलि वैरोचन का पुत्र था तथा प्रह्लाद उसका दादा था। यह सर्वविदित है कि प्रह्लाद के पिता का नाम हिरण्यकश्यपु था। वही हिरण्यकश्यपु जिसका वध नरसिंह अवतार के हाथों हुआ था।

ऐसे कितने ही प्रश्न हैं जिनके साथ किन्नर इतिहास व संस्कृति गुथी हुई है। सब से महत्वपूर्ण बात तो यह है कि इस क्षेत्र में बाह्य संस्कृतियों का प्रभाव नहीं के बराबर हुआ है क्योंकि ग्राम देवताओं ने प्रागैतिहासिक संस्कृति को यथावत् रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। कामरू का प्रसिद्ध किला, जहां कभी किन्नौर के राजाओं की राजगद्दी थी तथा उसी परम्परा के अन्तर्गत वर्तमान समय तक भी रामपुर बुशहर रियासत के राजाओं का राज्याभिषेक वहीं किए जाने की प्रथा रही है, ऐतिहासिक दृष्टि में महत्वपूर्ण रहा है। कामरू का स्थानीय नाम 'मोने' है। 'मोने' का सम्बन्ध 'मोन' से है। 'मोन' हिमालय की प्रसिद्ध जाति रही है तथा इसी वर्ग के नाम पर 'मोन ख्मेर' भाषा एक पृथक् वर्ग के रूप में प्रकाश में आई है। प्रश्न है कि क्या प्राचीन किन्नर कालान्तर में 'मोन' के नाम से प्रसिद्ध हुए ?

डॉ ग्रियर्सन ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भारतीय भाषाओं के सर्वेक्षण' में किन्नौरी बोली पर मुण्डा प्रभाव दर्शाया है। इस प्रकार किन्नरों का सम्बन्ध मुण्डावर्ग से भी स्थापित होता है। अतः अनेक प्रश्नों का उत्तर पुस्तक सन्दर्भों से दिया जाना सम्भव नहीं है, उसके लिए इस जाति के सांस्कृतिक एवम् लोक साहित्यिक अनुसन्धान-सर्वेक्षण की आवश्यकता थी जिसे अपने शोध-विषय 'किन्नर लोक साहित्य' के माध्यम से सम्पन्न किया गया। इस अल्पपरिचित क्षेत्र पर किए गए शोधकार्य का सार-संक्षेप इस प्रकार है।

लोक गीत :

किन्नर क्षेत्र में लगभग २००० लोक गीत वर्तमान समय में प्रचलित हैं। इनके विषय विविध हैं। मुख्यतः धर्मगाथा सम्बन्धी, सामाजिक मान्यताओं के गीत, लोकनृत्यों व नाट्यों के गीत वैयक्तिक गीत यथा शृंगार गीत एवम् जीवन-दर्शन के गीत अनेक आकार व रूपों में प्रचलित हैं।

प्रचलित लोकगीतों का वर्गीकरण प्रसिद्ध अमरीकी विद्वान स्टिथ थाम्पसन के ग्रन्थ 'मोटिफ इन्डैक्स-ऑव फोक लिट्रेचर' की परिपाटी पर प्रस्तुत किया गया जो किसी भी भारतीय जाति अथवा वर्ग पर अपने प्रकार का प्रथम प्रयास कहा जाता है। इस वर्गीकरण के अन्तर्गत उपलब्ध गीतों का वर्गीकरण तो सम्भव हुआ ही, यह व्यवस्था भी सम्भव हो सकी कि भविष्य में जो लोकगीत उपलब्ध हों, उन्हें भी यथास्थान रखा जा सके। इस वर्गीकरण के अनुसार लोकगीतों के निम्नलिखित वर्ग निश्चित किए गए :

१. धर्मगाथा, २. बौद्धधर्म सम्बन्धी, ३. त्यौहारों के गीत, ४. जन्म, विवाह तथा मृत्यु के गीत, ५. प्रेम गीत, ६. भूत प्रेतों के गीत, ७. सामाजिक प्रथाओं-विश्वासों से सम्बन्धित गीत, ८. ऐतिहासिक गीत, ९. स्वांग गीत, १०. विरह गीत, ११. जाति सम्बन्धी गीत, १२. दैवी घटनाएं, १३. सौन्दर्य गीत, १४. किन्नौर के दर्शक महापुरुषों के गीत, १५ जीवन-दर्शन के गीत, १६. सामाजिक कलह के गीत, १७. अन्य सामाजिक उत्सवों तथा लोकनाट्यों के गीत, १८. हास्यरस के गीत, १९. हत्याएं, २०. कोची गीत, २१. अहोतने प्रेम, विवाह सम्बन्ध गीत, २२. नाटियां, शेरों के गीत।

किन्नर लोक-गीतों में विविधता है, लोच है, भाव प्रवणता है जो अन्यत्र दुर्लभ है। डीबसरनी के गीत में उसकी मृत्यु पर लोक कवि कहता है :

किस्मत मा ग्याशो,	किस्मत नहीं चाहिए,
या डीबसी देसका किस्मत।	डीबसी जैसी किस्मत।

'तेलामा' के गीत में लोक-व्यवहार का दृष्टान्त :

कोभी मा छोड़या या मोरछाङों	कभी नहीं छोड़ेगा,
मोशिद छेचछाङ्।	नौजवान की पसन्द की हुई लड़की।
मोरछाङों मोशिद छेंचछाङा,	नौजवान की पसन्द की हुई लड़की।
पालासो मौशिद बोनयाङ्।	चरवाहे की पसन्द की हुई चरागाह।
पालासो मोशिद बोनयाङ्,	चरवाहे की पसन्द की चरागाह।
ओडासा मोशिद बोठाङ।	बढ़ई का पसन्द किया हुआ पेड़। (पेड़ नहीं छूटते हैं।)

विभिन्न अवसरों पर पर्वत-शिखरों के आस पास से देवताओं को भेंट करने हेतु पुष्प इकट्ठे करना किन्नरों की प्रिय प्रथा है। अनेक गीतों में इस प्रथा का वर्णन हुआ है। कुछ देवताओं के प्रिय फूलों का वर्णन भी इन गीतों में रहता है जिससे स्थान विशेष के ग्राम देवी या देवता तथा उसके पूजकों की अभिरुचि का भी पता चलता है। उरनी गांव में गाए जाने वाले बीशू त्यौहार के गीत में बताया गया है कि शुङ्रा गांव के महेशुर देवता को ब्रोशङ् फूल प्रिय है तथा निचार गांव की देवी उषा की पूजा उसके प्रिय पुष्प काशङ् से की जाती है। पर्वत देवियों, जिन्हें सावणी या साउनिगे कहते हैं, की अभ्यर्थना के अनेक सुन्दर गीत क्षेत्र में प्रचलित हैं। साउणी देवता तथा देवियां फागुली त्यौहार के अवसर पर पूजे जाते हैं।

जब नायक अथवा नायिका की मृत्यु असामयिक हो जो जाए तो लोक-कवि कहता है :

मा उस्ताङ् जुम्मिगो बास्बयङ्	नहीं खिलने तक मुरझाने की बजाय,
मा ले ज़ोरम्यान दाम दू ।	नहीं पैदा होना अच्छा है ।

'जिन्दगी रङ् जिन्दगी' गीत में इस क्षेत्र के सामाजिक जीवन-दर्शन पर प्रकाश डालने का यत्न किया गया है :

मोरछङ् चो दु खो वो देना,	आदमियों का दुःख बढ़ जाए तो,
कोय दम तोमाकू,	या तो एक सुट्टा तम्बाकू,
कोय बाटोच् सुराफ ।	या एक प्याला शराब ।

किन्नर गीतों के रचयिता युवक युवतियों के समूह होते हैं, एक लोक-कवि नहीं । इस क्षेत्र में समूह गान की अधिक प्रथा है । यहां विशेष घटनाओं पर नायक अथवा नायिका के जीवनकाल में ही गीत बना दिए जाते हैं । यहां के गीत अलिखित होते हैं अतः प्रायः अल्पायु होते हैं परन्तु उनकी धुनें अपेक्षाकृत प्रचलित रहती हैं क्योंकि उन पर अन्य कथा गीत निर्मित होते रहते हैं । बहुपति प्रथा के कारण इस क्षेत्र में विरह गीतो का प्रायः अभाव है । यहां आशापरक गीत अधिक मिलते हैं क्योंकि लोगों का देवी देवताओं में अगाध विश्वास है । इन गीतों में स्थानीय उपमाओं का प्राधान्य रहता है, यथा 'न पसन्द आने वाला पति बिच्छू-बूटी (एक पौधा विशेष) की तरह होना' तथा पक्की बात जोगठी (दयार की लकड़ी) के धूएं की तरह होना । इन गीतों में वंश वर्णन, प्रश्नोत्तर, टेक, भेंट वर्णन, वस्त्र वर्णन आदि अनेक विशेषताएं होती हैं ।

लोक-कथाएं :

किन्नर क्षेत्र में सैंकड़ों लोक-कथाएं प्रत्येक गांव में प्रचलित मिलती हैं । वर्ष में छः मास बर्फ से ढके रहने वाले इस क्षेत्र में सर्दियों में घरों के अन्दर बन्द लोग, बड़े बूढ़े अनेक लोक कथाएं अंगीठी के पास आग सेंकते हुए परिवार के अन्य लोगों को सुनाते हैं । इस प्रकार प्रचलित कथाएं तो ताजा रहती ही हैं, अन्य क्षेत्रों की लोक कथाएं भी इस भण्डार में सम्मिलित होती रहती हैं । बौद्ध जातकों में प्रचलित अनेक लोक कथाएं जिन्हें अभी तक किसी भी लेखक ने भारतीय भाषाओं में प्रकाशित नहीं करवाया है, इस क्षेत्र में लोकप्रिय हैं । सामान्यतः इस क्षेत्र में निम्नलिखित प्रकार की लोक कथाएं प्रचलित मिलती हैं :

१, **धर्म कथाएं** : १. लोक देवताओं से सम्बन्धित, तथा २. बौद्ध धर्म से सम्बन्धित ।

२. **पौराणिक** : १. पृथ्वी व मनुष्यों के साथ सम्बन्धित (उत्पत्ति सम्बन्धी), २. पुराण कथाओं से सम्बन्धित ।

३. **पशु पक्षियों से सम्बन्धित ।**

४. **राक्षसों से सम्बन्धित ।**

५ **नीति सम्बन्धी** : १. उपदेश सम्बन्धी, २. निर्णयात्मक, ३. कारण निरूपक ।

जिङ् सिङ् ग्यलवो, खाशोरे नाशोरे, विश्वासपात्र मेमना, सौद तथा सौदनिग, हिरन राजकुमार, बुद्धि औकलू मोलङ् आदि कथाओं के अनेक रूपान्तर इस क्षेत्र के जनमानस में प्रचलित

मिल जाते हैं। रूजा यङ् याङ्ज़े (बूढ़ा तथा बूढ़ी) की कथा में शलजम का पौधा उखाड़ कर वे दोनों राक्षस के घर में पहुंच जाते हैं जहां राक्षस रात को पहुंचता है और सो जाता है। बूढ़ा तथा बुढ़िया सोए हुए राक्षस के मुंह में रोटी व सब्जी मल देते हैं जिसे जागने पर वह चौंक कर देखता है और अपने मुंह को 'चोर' समझ कर पीटता है तथा अन्त में मर जाता है। 'बुद्धि, औकलू मीलङ्' में राजा का चपड़ासी एक ही वस्तु के सम्बन्ध में विविध जानकारी अनेक बार देखने पर देता है परन्तु मन्त्री सारी जानकारी एक ही बार निरीक्षण करने पर दे देता है।

किन्नर लोक कथाओं के रूढ़ तन्तु सशक्त हैं तथा उनमें से अनेक को स्मिथ थॉम्पसन की पुस्तक 'अभिप्राय अनुक्रमणिका' में तलाश किया जा सकता है। कुछ ऐसे रूढ़-तन्तु जो 'मोटिफ़-इन्डैक्स' में सम्मिलित किए जा सकते हैं, भी उपलब्ध हैं। 'किन्नर लोक साहित्य' में पृष्ठ ११३-१२२ पर ऐसे १६४ अभिप्रायों को विधिवत् वर्गीकृत किया गया है। यह कार्य अनुसन्धान के क्षेत्र में आधुनिकतम है।

'लटीशरजङ हिनाडण्डूब' इस क्षेत्र की अतीव महत्वपूर्ण कथा है। इस कथा के अनेक रूपान्तर इस क्षेत्र में प्रचलित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस कथा का प्रचलन-क्षेत्र इतना व्यापक है कि यह सम्पूर्ण एशिया भूखण्ड (रूस को मिलाकर) में सैकड़ों-हजारों रूपान्तरों में प्रचलित है। तिब्बत के लोक नाटककार 'बूचेन' इसे अति प्राचीनकाल से लोगों के मनोरंजनार्थ नाटक के रूप में गांव-गांव में मंचित करते रहे हैं। चीन में भी इस कथा का नाटक के रूप में प्रचलन रहा है। किन्नर क्षेत्र में इस कथा के अनेक रूपान्तर प्रचलित हैं। जिनमें से २५ का अध्ययन 'किन्नर लोक-साहित्य' में प्रस्तुत किया गया है। संक्षेप में कथा सार इस प्रकार है :

प्राचीन काल में पांगी नगर में शर नामक राजा राज्य करता था। उसकी पत्नी का नाम लेकेमा था। लेकेमा एक बार बीमार हुई और मृत्यु शय्या पर उसने अपने पति से वचन ले लिया कि यदि उसकी मृत्यु हो गई तो वह उसकी सन्तान का पालन-पोषण करेगा और दूसरा विवाह नहीं करेगा। रानी की पुत्री की आयु छोटी थी तथा उसका नाम 'लटीशरजङ्' था। उसके राजकुमार का नाम 'हिनाडण्डुब' था। वह लटीशरजङ् से छोटा था। राजकुमार तथा राजकुमारी बहुत सुन्दर थे। रानी की मृत्यु हो गई।

रानी की मृत्यु के पश्चात् राजा बहुत खिन्न रहने लगा। कालान्तर में मन बहलाने के उद्देश्य से वह जंगल में शिकार खेलने जाने लगा। उस एक दिन चट्टान पर बैठी एक सुन्दरी मिली उसमें आकृष्ट हो कर उसने उसके सामने विवाह-प्रस्ताव रखा। उसने अपने आपको परी बताया तथा प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। नई रानी राक्षसी थी, उसके आते ही राज्य में पशुओं की कमी होती चली गई क्योंकि वह उन्हें रात को खा जाती थी,

एक दिन उसने लटीशरजङ् तथा हिनाडण्डुब को खेलते हुए देख लिया और मन्त्री से उनक सम्बन्ध में पूछा। मन्त्री के यह बताने पर कि वे राजा की पहली रानी की सन्तान हैं, उसके सीने पर सांप लोट गया। उसने बीमारी का बहाना किया और राजा के पूछने पर बताया कि यदि

उन दोनों बच्चों के कलेजे उसे खाने को उपलब्ध नहीं करवाए गए तो उसकी मृत्यु हो जाएगी। इस बात की पुष्टि वैद्य ने भी की क्योंकि रानी ने ऐसा कहने के लिए उसे मना लिया था।

राजा ने जल्लादों को बुलाकर आदेश दिया कि जंगल में ले जाकर वह उन दोनों बच्चों की हत्या करे और उनके कलेजे रानी के स्वास्थ्य-लाभ के लिए लाएं। जंगल में जब जल्लाद उन बच्चों को कत्ल करने की तैयारी में थे, पास के तालाब से उसी समय उनकी मां आधी स्त्री तथा आधी नागिन के रूप में प्रकट हुई और जल्लादों को दुत्कारते हुए बोली—यह लो, दो कलेजे। इन निरपराध बच्चों को मत मारो और ये कलेजे रानी को खाने के लिए दे दो। जल्लादों ने बच्चों को छोड़ दिया और कलेजे रानी को दे दिए। रानी उन्हें देखकर प्रसन्न हो गई क्योंकि उसे विश्वास हो गया कि बच्चों को मृत्यु के घाट उतार दिया गया है।

कुछ दिनों के बाद रानी ने आश्चर्य से देखा कि वही दो बच्चे आंगन में खेल रहे हैं। उसे चालाकी का पता लग गया। वह पुनः बीमार हो गई तथा फिर वही मांग की। राजा के आदेश से बच्चों को दोबारा जंगल ले जाया गया। उस समय जल्लादों के समक्ष बच्चों के मामा (जिसकी पहले ही मृत्यु हो चुकी थी) प्रकट हुए और जल्लादों को दो कलेजे रानी को देने के लिए दिए तथा उन्हें कहा कि बच्चों को वापिस महल में न ले जाकर जंगल में ही छोड़ दिया जाए ताकि वे अपनी जान बचाने के लिए जहां भी चाहें, जा सकें।

जल्लाद कलेजो के साथ वापिस चले गए और बच्चों ने जंगल की राह ली। घने जंगल में एक झोंपड़ी देखकर वे उसकी ओर बढ़े तथा भाई ने बहिन से पीने के लिए पानी मांगा। बहिन लटीशरजङ् ने झोंपड़ी के दरवाजे पर जाकर बुढ़िया से पानी प्राप्त करना चाहा परन्तु उसने कहा कि उसके घर में पानी नहीं है। उसने पास ही एक तालाब की ओर संकेत किया और बर्तन देकर राजकुमारी को पानी लाने के लिए भेज दिया। बर्तन में छेद था इसलिए। लटीशरजङ् को पानी लाने में कठिनाई हुई। वह अपने सिर के बाल उखाड़ कर छेद को बन्द करने का यत्न करती रही। इसी बीच बुढ़िया ने उधर से गुज़र रहे एक व्यापारी के हाथ हिनाडण्डुव को बेच दिया। व्यापारी उसे लेकर तिब्बत चला गया। बहिन स्थान-स्थान पर भाई की खोज करती रही और गले में यत्र-तत्र पड़ी हड्डियों की माला डालती रही क्योंकि वह हड्डियों को देखकर यह समझती थी कि कहीं वे उसके भाई की ही न हों।

इधर चलते चलते व्यापारी तिब्बत के एक शहर में पहुंचा। उसे पता था कि वहां राजा का चुनाव होने वाला था। वह हिनाडण्डुव को वहां नहीं ले जाना चाहता था अतः उसे जंगल में एक वृक्ष के खोल में छुपा दिया। एक हाथी की सूंड में माला लटका दी गई थी और यह निर्णय लिया गया था कि हाथी जिसे भी माला पहना देगा, वही उस देश का राजा हो जाएगा। हाथी ने जंगल में पहुंच कर वृक्ष के खोल में बैठे राजकुमार के गले में हार डाल दिया जिसके फलस्वरूप वह राजा बम गया। कालान्तर के लटीशरजङ् 'भाई, भाई' की आवाज लगाते हुए महल के पास से गुजरी और हिनाडण्डुव ने उसे पहचान लिया।

अन्त में राजकुमार हिनाडण्डुब ने उस राक्षसी को पांगी में आकर युद्ध के लिए ललकारा और एक खेत में युद्ध के पश्चात् मार गिराया। पांगी गांव काल्पा से लगभग ८ किलोमीटर दूर है और यहां इस राक्षसी रानी की 'छोस्तेन' (स्मारक) अब तक मौजूद है।

कथा में वर्णित विभिन्न नामों के अनेक रूपान्तर हैं जिन्हें उक्त ग्रन्थ में पृष्ठ १२३–१३५ पर देखा जा सकता है।

किन्नर लोक कथाओं के कथानक सुन्दर तथा स्पष्ट है और उनसे यहां के लोकमानस के चिन्तन मनोहारी पर व्यापक प्रकाश पड़ता है।

कहावतें तथा लोकोक्तियां :

इस क्षेत्र में प्रचलित कहावतों को निम्नलिखित ढंग से वर्गीकृत किया जा सकता है: १. सामाजिक सत्य सम्बन्धी, २. प्रवृति सूचक, ३. शकुन–अपशकुन सम्बन्धी, ४. ज्ञान सूचक, ५. परिस्थिति सूचक, स्नेह-सम्बन्ध सूचक तथा ७. हास्य रस सम्बन्धी।

कहावतों की भान्ति यहां हजारों पहेलियां प्रचलित हैं। इनके मुख्य विषय जीव, वस्तु, फल, घर तथा प्रकृति हैं। किन्नर बोली में कहावत को 'स्यानो चीठी' तथा पहेली को 'शास्त्रङ्' कहा जाता है जिसका प्रचलित रूप शस्त्रङ् ही रह गया है। उदाहरणार्थ :

कहावत : १ मे गुचु गुचु ग्यब्ब, नार गुचु गुचु हार।

अर्थ : यदि आग को बार बार छेड़ें तो बुझ जाती है, यदि स्त्री को तंग किया जाए तो भाग जाने का भय रहत है।

२ चाल्याल्या तुशङ्, खन खन दोशङ्।

अर्थात् आटा छानने पर बुरा तथा प्रश्न लगाने पर देवता का दोष (खोट) अवश्य निकलता है।

पहेली : १ आङ् तेतेयो राल्डङ् मित्र।

मेरे दादा की आंख स्वर्ग की ओर। (अर्थ : घर की चिमनी)

२. नारों नारो नारशिम माङकोच।

गिन गिन कर भी गिनना कठिन। (अर्थ : आकाश के तारे)

त्यौहार-उत्सव :

किन्नर क्षेत्र में चैत्रोल, बीशु उकरेणी, फुल्याच्, दीवाल, जाग्रो, फागुली, शिवरात्रि, लोसर, रमदैस, माहङ् साङा (१५ माघ), खेचा, शू पितङ् हूराङ्, बल तथा ऐराटङ् आदि त्यौहार मनाए जाते हैं। इस क्षेत्र के प्रायः सभी त्यौहार हिन्दु धर्म, बौद्ध धर्म तथा आदिम जातीय संस्कृति से सम्बन्धित हैं। देव पूजन परम्पराओं से जुड़ा होने के कारण यह क्षेत्र प्राचीनतम सांस्कृतिक परम्पराओं एवं मान्यताओं का अद्भुत संग्रहालय है। 'रङ् कोरङ चिम' अर्थात् पर्वत चोटियों के दर्शन, पौणारतेङ् (पूर्णमाशी), अश्लेचङ् (आषाढ़ मास में आयोजित उत्सव), फुल्याच् (फूलों का ग्राम देवताओं को

अर्पित करने के लिए पर्वत चोटियों से लाना) तथा फागुन मास की फागुली का त्यौहार जिसमें पर्वत शिखरों पर निवास करने वाले वन्य देवों (सावणियों) की पूजा तथा आह्वान का प्रचलन है, आदि अद्भुत उत्सव इस क्षेत्र में समय-समय पर आयोजित किए जाते हैं। बौद्धधर्म प्रधान क्षेत्रों में बौद्धधर्म सम्बन्धी त्यौहारों-उत्सवों, यथा लोसर, रमदैस, लोमोच, शिरकिन जिने तथा कुमजोद का समारोहपूर्वक आयोजन इस क्षेत्र की विशेषता है। चैत्रोल आदि त्यौहारों में अश्लील आवाजें लगाना बीशू में अश्लील प्रदर्शन करना तथा उखरेणी (उकरेणी) में कई स्थानों पर भद्दी हरकतें करके ग्रामेत्तर देवी-देवताओं को वापिस भेजने सम्बन्धी विश्वास अभी पूर्ण रूप से नकारे नहीं गए हैं। पुल्याच में गत एक वर्ष की अवधि में मृत व्यक्तियों के नाम या सम्बन्धित परिवार वाले पकवान बांटकर याद करते हैं तथा गांव के अन्य लोगों व सम्बन्धियों से फूल, न्योजे तथा अखरोट की मालाएं स्वीकृत करके शोक निवृत होते हैं। मृतकों के नाम पर पर्वत शिखरों पर पत्थर के चबूतरे (शकरी कोटङ्) बनाने की प्रथा इस क्षेत्र में अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित रही है। वर्ष में एक बार इन चबूतरों पर पकवान व झण्डे चढ़ाए जाते हैं। ऐसा अनेक गांवों में फुल्याच, उकरेणी जैसे त्यौहारों के अवसरों पर किया जाता है। सर्दियों में लगभग १५ दिन ने लिए किन्नर देवता अगले वर्ष के लिए अपनी प्रजा के लिए सुख-समृद्धि लाने के लिए इन्द्रपुरी जाते हैं। इस अवधि में गांव में न तो हल चलाया जाता है, न ही कोई शोर वाला समारोह किया जाता है और न ही वाद्य-यन्त्र बजाने तथा नृत्य-गीतों के कार्यक्रम आयोजित करने की आज्ञा होती है।

लोक-देवता :

किन्नर क्षेत्र के प्रत्येक गांव में ग्रामदेवता का मन्दिर तथा लकड़ी की पालकी होती है। इस पालकी को स्थानीय भाषा में 'रथङ्' कहा जाता है। उपरि किन्नौर के कतिपय गांवों में जहां बौद्धधर्म का अधिक प्रभाव होता है, लोकदेवता भी बौद्धधर्मावलम्बी हैं और उनकी पालकियां अपेक्षाकृत भिन्न प्रकार की हैं।

किन्नरों की देवकथा अथवा पुराणकथा अद्भुत है। प्रत्येक 'रथङ्' को सजाते समय सोने व चांदी के कुछ 'मुखङ्' उसकी जटाओं के नीचे सजाकर लगाए जाते हैं। ये 'मुखङ्' अनेक दशाओं में अठारह होते हैं। अठारह की संख्या पवित्रता की द्योतक है अतः यह विश्वास किया जाता है कि अति प्राचीनकाल में हिड़मा (हिरमा) का विवाह बाणासुर से हुआ। वे एक स्थान गोरबोरिङ् गुफा में सुंगरा गांव के पास ठहरे जहां उनके यहां अठारह पुत्र-पुत्रियों ने जन्म लिया। इनमें प्रमुख ये हैं—चण्डिका (कोठी गांव), सुंगरा महेशुर (सुंगरा गांव), चगांव महेशुर (चगांव गांव), भाबा महेशुर (भावा-कटगांव गांव), उषा (निचार गांव), चित्र रेखा (तरण्डा गांव) तथा तिरासन व पिरासन। ये अठारह भाई-बहिन ही किन्नौर के मुख्य देवी-देवता हैं परन्तु इनमें से चार के सम्बन्ध में किसी प्रकार की जानकारी उपलब्ध नहीं है। इनके अतिरिक्त बूआ, सांगला, सापनी, बारङ्, यूला, उरनी, बरी तथा नात्पा आदि गांवों में नाग देवता व देवियां हैं। महेशुरों के साथ के गांवों तथा कुछ अन्य गावों यथा कामरू, चीनी, उरनी, पान्वीं, गरशू, द्रुतरङ्, असरङ् तथा रोधी आदि में नारायण देवता हैं। महेशुरों के सहायक देवता नारायण ही हैं। उबला, युलसा, मिलायुङ्,

टुङ्मा, चक्रोलिङ्, तलसा, लामो आदि बौद्धधर्म के देवता व देवियां हैं। इनके अतितिक्त गृहदेवता (किमशू), भूतप्रेत, फसल के देवता, वन्य देवता (सावणी) आदि कितने ही देवी-देवता अथवा आत्माएं स्थान-स्थान पर पूजे जाते हैं। धर्म की दृष्टि से यह क्षेत्र शैवमतावलम्बी है जहां अति प्राचीन काल में महेशुरों की सबसे बड़ी बहिन चण्डिका ने अपने भाई-बहिनों के बीच क्षत्रों की बांट की तथा अपने लिए रोपा घाटी का क्षेत्र रख लिया और बांट में कोठी गांव प्राप्त किया। उसने उषा के के पति हौनू (अनिरुद्ध ?) को काल्पा के पास एक घराट में धोखे से मार दिया और बाद में चगांव महेशुर की सहायता से कठिनाई से उबर सकी।

देवता के कारदारों को मोहतमिम, ग्रोक्च, कोषाध्यक्ष, कायथ, शूचारस, शूमाथस, भण्डारी, बजन्तरी, पुजारस तथा कोनसङ् कोनेस आदि कहा जाता है। इन सब कारदारों के कार्य अलग-अलग होते हैं।

किन्नर लोक-देवताओं की एक विशेषता यह है कि वे आपस में कोई न कोई सम्बन्ध यथा भाई, मामा, बहिन आदि बनाए हुए हैं। देवताओं का मानवीकरण इस संस्कृति की अद्भुत देन है। यहां देवता के साथ लोग शर्त लगाते हैं, उसे मांग पूरी न होने पर सज़ा भी देते हैं तथा उसकी सेवा करके उसे प्रसन्न करते तथा रूठने की दशा में मनाते हैं। शैव, वैष्णव तथा बौद्धधर्मों का सुन्दर समन्वय इस क्षेत्र की संस्कृति की एक अन्य विशेषता है।

बाणासुर का निवास स्थान सुंगरा महेशुर के मन्दिर से माना जाता है तथा विश्वास किया जाता है कि उसकी आत्मा अपने पुत्र–पुत्रियों के पास सांप के रूप में समय–समय पर जाती रहती है। हिरमा अथवा हिड़िम्बा भी पौराणिक देवी है, इसका मन्दिर कफौर गांव में है। महाभारत में हिड़िम्बा का विवाह भीम के साथ हुआ बताया गया है, बाणासुर के साथ नहीं। बाणासुर व हिड़िम्बा का विवाह किन्नर– पुराणकथा की विशिष्टता तथा प्राचीनता का द्योतक है। प्रतीत होता है कि महाभारतकार ने हिड़िम्बा तथा भीम प्रसंग तथा बाणासुर-उषा-अनिरुद्ध कथा लोक प्रचलित स्वरूपों से प्राप्त की और उनका समावेश महाभारत तथा अन्य पुराणों में किया परन्तु हिड़िम्बा-बाणासुर प्रसंग उसकी दृष्टि में नहीं आया, इसलिए उपेक्षित रह गया। कुछ भी हो, किन्नर– पुराणकथा सशक्त संस्कृति का आधार लिए हुए है।

लामा धर्म :

बौद्ध धर्म का लामा धर्म स्वरूप किन्नर क्षेत्र के बड़े भाग का मुख्य धर्म है। लामा बौद्ध धर्म के अधिष्ठाता होते हैं और अपनी धार्मिक शाखा के अन्तर्गत अनुष्ठान सम्पन्न करवाते हैं। 'ओम् मणि पद्मे हुं हरि' इस क्षेत्र में प्रचलित मूल बौद्धमन्त्र है जिसका उच्चारण, मनन इस धर्म को मानने वाले प्रायः हर समय करते रहते हैं। 'मणि काबुम' पुस्तक में 'ॐ मणि पद्मे हुं' की बहुविध तथा विशद व्याख्या की गई है। क्योंकि किन्नर क्षेत्रीय बौद्ध धर्म पर तिब्बत में प्रचलित लामा धर्म का प्रभाव अधिक रहा है अतः लामा, तिब्बती भाषा में पारंगत होते हैं और उसी भाषा के ग्रन्थों को लामा धर्म का आधार मानते हैं। इस मन्त्र का एक अर्थ इस प्रकार किया जाता है–'आध्यात्मिक

पुनर्जन्म के कमल में तीन तत्वों का समूह मेरा सिद्धिदायक रत्न है।' यह मन्त्र समस्त सृष्टि का सार है। 'ओम् मणि पद्मे हूं' में मणि को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। यह सिद्धादात् तथा महान् पुण्यवान है।

इस क्षेत्र में बौद्धधर्म की ग्येशुक्पा जागछेन, ठोमा, निङ्‌मा, डूक्पा, करग्युत्पा आदि शाखाएं प्रसिद्ध हैं, जिनमें से ग्येलुक्पा शाखा का प्रचार सर्वाधिक है। बौद्धभिक्षुओं को लामा तथा भिक्षुणियों को 'चोमो' अथवा 'जोमो' कहा जाता है। किन्नरक्षेत्रीय बौद्धधर्म में भूतप्रेतों तथा दुरात्माओं के विश्वास की धारणा है। बौद्ध देवी-देवता दुरात्माओं को भगाने के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इस क्षेत्र में बौद्धधर्म का प्रचार दसवीं शताब्दी में हुआ। पद्मसम्भव को महान लामा के रूप में याद किया जाना इस बात का प्रतीक है कि इस धर्म का प्रचार यहां तिब्बत की ओर से हुआ। इस क्षेत्र में लिप्पा तथा कानम में बौद्धधर्म शिक्षा के दो प्राचीन केन्द्र रहे हैं। दोनों स्थानों पर 'कन्ग्युर' तथा 'तन्ग्युर' धर्मग्रन्थों के पुस्तकालय हैं। इन पुस्तकालयों में तिब्बती भाषा में लिखे गए ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। बौद्धधर्म की ग्येलुक्पा शाखा का सम्बन्ध दलाई लामा से है। इस शाखा के लामा गृहस्थाश्रम में प्रवेश नहीं करते।

लामाओं की पूजा सामग्री में दर्जे (वज्र), डिलू (घण्टी), डमरू, दुङ्‌ग्युर (धर्मचक्र), तिङ्‌जर (पूजा की प्यालियां), मारमे (दीपक) छोस (धर्मपुस्तक) आदि वस्तुओं का महत्वपूर्ण स्थान है। दुङ्‌ग्युर (धर्म चक्र) कई आकार के होते हैं तथा धर्म के नाम पर छोकतेन अथवा स्तूप बनाने की प्रथा भी है। इस क्षेत्र में बौद्धधर्म की महायान शाखा के प्रचारक तथा अनुयायी अधिक है अतः कहा जा सकता है कि इस धर्म का समष्टिगत रूप किन्नर समाज में क्रियाशील है।

लोकजीवन और संस्कृति :

यद्यपि किन्नर समाज में पुत्र तथा पुत्री के जन्म को विशेष अन्तर की दृष्टि से नहीं देखा जाता परन्तु फिर भी पुत्र जन्म प्रसन्ता का विषय रहता ही है। रोपा गांव में उरव्यांग उत्सव के अवसर पर पुत्रोत्पत्ति वाले परियार ग्रामदेवता को सम्मिलित रूप से एक बकरा भेंट करते हैं। कूनोचारङ्‌ में पुत्रोत्पत्ति वाले परिवार आवश्यक रूप से एक विशेष त्यौहार के अवसर पर देवता को अपने घर बुलाते हैं। नमगिया में सन्तानोत्पत्ति के उपलक्ष्य में बच्चे के माता-पिता गांव के लोगों को भोज (ङवङ्‌) खिलाते हैं। बच्चे का जन्म प्रायः खुड्ड में ही होता है तथा शुद्धि तक देवता से सम्बन्धित किसी भी वस्तु को छूना वर्जित माना जाता है।

किन्नर क्षेत्र में बहुपति प्रथा का प्रचलन है। बहुपति प्रथा के कई कारण बताए जाते हैं, जिनमें खशों की प्राचीन विवाह पद्धति का प्रभाव, सम्पत्ति की बांट का भय, स्त्रियों की संख्या कम होना, निर्धनता, परिवार की एकता की भावना तथा श्रम-विभाजन की समस्या आदि प्रसिद्ध हैं। कुछ भी हो, बहुपति प्रथा इस क्षेत्र में प्रागैतिहासिक काल से प्रचलित रही है, इसमें सन्देह नहीं है। वर्तमान समय में इस क्षेत्र में निम्नलिखित विवाह-प्रथाएं प्रचलित हैं :

१. जनेकङ् अथवा जनेटङ् : बड़ा अथवा सामान्य प्रकार का विवाह। इसमें मध्यस्थ (माजोमी) विवाह सम्बन्धी बात चलाता है और वर बारात लेकर वधु के घर जाता है। वर की बारात में कम व्यक्ति तथा वधु के साथ अधिक बाराती होते हैं।

२. न्योटङ् मीरङ् : दो व्यक्ति दूल्हे की ओर से वधु के घर जाते हैं तथा वधु को ससुराल ले आते हैं। उसमें वर को बारात लेकर जाने की अवश्यकता नहीं होती बल्कि उसकी अनुपस्थिति में उसकी सहमति से उसकी कोई वस्तु उसके ससुराल ले जाई जाई सकती है।

३. दमचलशिश : प्रेम विवाह।

४. दारोशडबडब : इसमें लड़की को बलपूर्वक भगाकर ले जाने की प्रथा है।

५. हारी : तलाक के बाद पुनर्विवाह को 'हारी' अथवा 'हार' कहते हैं। हारी की प्रथा के अन्तर्गत वर को पत्नी के पहले विवाह का खर्च देना पड़ता है।

किन्नर क्षेत्र में विवाह के अनेक प्रकारों में कतिपय रोचक बातें यहां लिखना असंगत न होगा। 'जनेकङ्' प्रकार के विवाह के उद्देश्य से लड़के का पिता वधु की खोज में तत्परता दिखाता है। अनेक बार एक से अधिक प्रस्ताव आने पर वह देवता के सम्मुख फूल ले कर जाता है तथा देवता से स्वीकृति प्राप्त होने पत वह बातचीत पक्की करने के लिए लड़की के परिवार से माजोमी (मध्यस्थ) के माध्यम से बात आगे बढ़ाता है। विवाह के अवसर पर तथा विवाहोपरान्त वर द्वारा अपनी सास के पांवों पर पैसे रखने की प्रथा है। इस प्रथा को 'डोलङचिम' कहा जाता है। विवाह सम्बन्धी बात पक्की होने पर लड़की के माता-पिता तथा ग्राम-देवता को 'इजित' की राशि देने की प्रथा है। 'इजित' की राशी अनेक स्थानों पर भिन्न-भिन्न है। दारोशडब डब (बलपूर्वक भगाने की शादी) में लड़का अपने साथियों को साथ ले कर लड़की को बलपूर्वक उठा कर लाने के लिए जाता है परन्तु वह ही सबसे पहले लड़की को छुता है ताकि उसे पता चल जाए कि उसका भावी पति कौन है। इस प्रकार के सम्बन्ध मजबूत करने के लिए भी मध्यस्थ (माजोमी) महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। इस क्षेत्र में शाराब की बोतल पर मक्खन लगा कर भेंट करना शुभ माना जाता है।

किन्नौर के उपरि क्षेत्रों में प्रेम-विवाह (सेम्बा थुनशा) में लड़का तथा लड़की घर से भाग जाते हैं। इस क्षेत्र में 'न्यमशा लेमो' प्रकार के विवाह में वर का सखा (वक्टुद्जिखा) तथा लामा भी बरात के साथ जाते हैं। 'न्यमशालेमो' निचले किन्नौर के सामान्य विवाह प्रकार का ही नाम है। उपरि किन्नौर में टशिश प्रकार के विवाह में घर का दरवाजा बारात के पहुंचने पर बन्द कर दिया जाता है। घर के दरवाजे से कुछ दूरी पर प्रश्नोतर का कार्यक्रम होता है जिसमें दोनों पक्षों की हार-जीत की भावना रहती है। टशिश प्रथा रोपाघाटी में प्रचलित रही है परन्तु अब इसका प्रचलन कम हो गया है। हङाङ् क्षेत्र में भी लड़की के लिए धन के रूप में 'इजित' प्राप्त की जाती है। इस क्षेत्र में 'जाग्रों' प्रथा के अन्तर्गत प्रश्नोतर का कार्यक्रम आवश्यक माना जाता है। 'जाग्रों' विवाह-गायक होते हैं जो बारात के साथ वधु पक्ष के प्रश्नों के उत्तर

गाकर देते हैं। ञाओं-प्रथा का प्रचलन तिब्बत से हुआ प्रतीत होता है। 'बीथोपोनो' (शर्तनामा) किन्नर क्षेत्रीय विवाह प्रथा का आवश्यक अंग है। इसके अनुसार विवाह के अवसर हर वधु के नाम कुछ भूमि-जायदाद आदि का उल्लेख रहता है। हारी की दशा में 'बीथोपोनो' को नष्ट कर दिया जाता है।

तलाक की प्रथा को 'शिङ्टगटग' अर्थात् 'लकड़ी तोड़ना' कहा जाता है। इसके अन्तर्गत एक विशेष लकड़ी तोड़ कर पति पत्नी तलाक ले सकते हैं।

मृत्यु सम्बन्धी विश्वासों के अन्तर्गत यह उल्लेखनीय है कि किन्नरों के विश्वास के अनुसार मृत्यु के पश्चात् आत्माएं किन्नर कैलास के समीप एक स्थान 'रल्डङ्' में निवास करती हैं। मृतकों के नाम पर पर्वत शिखरों पर चबूतरे 'दुमशेरवार' 'शकरी' बनाने की प्रथा है। फुल्याच त्यौहार में शोकनिवृत्ति की जाती है। शव को शमशानघाट ले जाते समय साधारण मार्ग से जाना वर्जित माना जाता है तथा शवयात्रा में 'मार्ग बताने वाला कपड़ा' (ओम काफड़ा) दो व्यक्ति फैला कर ले जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रथा आत्मा को गांव से बाहर का मार्ग बताने के लिए प्रचलित है। मृतक के नाम पर दान देने की प्रथा भी प्रचलित है।

तोशिम :

'तोशिम' प्रथा इस क्षेत्र की महत्वपूर्ण सांस्कृतिक प्रथा है। इसका शाब्दिक अर्थ 'बैठना' होता है। 'तोशिम' लड़कियों के आराम की प्रथा है। इसके अन्तर्गत गांव की लड़कियां एक अलग घर में कुछ दिनों के लिए विश्राम हेतु इकट्ठी होती हैं और स्वयं भोजन आदि बनाती तथा नृत्य-गायन का कार्यक्रम करती हैं। अनेक अवसरों पर वे भोजन पर अपने सम्बन्धियों को भी आमन्त्रित करती हैं। यह प्रथा यद्यपि छोटा नागपुर की जातियों में प्रचलित 'घोटुल' प्रथा से भिन्न है। परन्तु अव्यक्त रूप से इसका सम्बन्ध घोटुल से अवश्य प्रतीत होता है। खडब (गन्दगी के लिए मुक्का) इस प्रथा का महत्वपूर्ण अंग है और अपान वायु छोड़ने वाले व्यक्ति को दण्डस्वरूप अन्य सदस्यों को कुछ खिलाने के लिए वाध्य होना पड़ता है।

लोकनाट्य व लोकनृत्य :

'होरिङ्फो' अथवा 'हरिणनर्तन' किन्नरों का प्रसिद्ध लोकनाट्य है। इसमें कलाकार मुखौटे व सींग लगाकर अभिनय करते हैं। लामाओं के छम्म नृत्य, राक्षसों से सम्बन्धित नाट्य, देवताओं के नृत्य व नाट्य एवम् बौद्ध कथाओं पर आधारित नाट्य इस क्षेत्र के लोक मानस के मनोरंजन के महत्वपूर्ण साधन हैं। उत्सवों पर आयोजित लोकनाट्यों के अतिरिक्त कायङ्, वाकायङ्, गोम्फना, थर कायङ्, छेरकी कायङ्, नागस कायङ् तथा शुना कायङ् आदि नृत्य प्रकार इस क्षेत्र में अतीतकाल से प्रचलित हैं।

गोम्फोना घर के भीतर आयोजित किया जाने वाला नृत्य है। इसके अन्तर्गत शोन, जबरों, खार आदि नृत्य प्रकार रखे जा सकते हैं। हङ्रङ् में सोमा हेलङ् गर काटक्या तथा जबरों

नृत्य प्रसिद्ध हैं । पूह क्षेत्र में ग्यवशुन, ग्यङ्लू, दोङशुन, करलू तथा छङ्लू आदि नृत्य प्रचलित है ।

लोकभाषा :

किन्नर क्षेत्रीय भाषा का अध्ययन रोचक है । इस क्षेत्र में नौ बोलियां प्रचलित हैं, जिन्हें इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है :

१. **कनौरयानुस्कद :** निचार व सांगला क्षेत्रों में प्रचलित बोली । यह काल्पा क्षेत्र में भी प्रचलित है तथा इसके बोलने वाले लोग खश जाति से सम्बन्धित हैं ।
२. **छित्कुली :** यह छित्कुल तथा रक्छम गांवों की बोली है ।
३. **हरिजनों की बोली :** यह पश्चिमी पहाड़ी के समीप है ।
४. **ग्रौरसों (लुहारों) की बोली :** यह सवर्णों तथा हरिजनों की बोली से भिन्न है ।
५. **न्यम स्कद :** हङ्रङ् क्षेत्र की बोली ।
६. **सुङ्नम की बोली :** सुङ्नम गांव की बोली है ।
७. **थेवर स्कद :** कानम से पूह तक के क्षेत्र में प्रचलित है ।
८. **जंगी, लिप्पा व ग्रसरङ् की बोली :** इसे जंगरामी कहा जाता है ।
९. **नमगिया की बोली :** टशिगङ्, खाबो तथा नमगिया में बोली जाती है ।

निचले किन्नौर में प्रत्येक गांव में सवर्णों, ग्रौरेसों तथा हरिजनों की बोलियों में ग्रन्तर है । रोचक बात यह है कि किनन्र क्षेत्र की बोली पर छोटा नागपुर की मुण्डा भाषाग्रों का प्रभाव बताया जाता है । यही कारण है कि वर्तमान समय में ग्रनेक भाषाविद् इन बोलियों के ग्रध्ययन की ग्रोर प्रवृत्त हुए हैं ।

'किन्नर लोक साहित्य' पर शोध-कार्य करते समय इस क्षेत्र की लोकसंस्कृति व लोकभाषा का भी सम्यक सर्वेक्षण किया गया ग्रौर इस प्रकार लोक साहित्यिक ग्रध्ययन को विज्ञान सम्मत तथा व्यापक बनाने के लिए यत्न किए गए । किसी ग्रादिम जाति के लोकसाहित्य का भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से ग्रध्ययन ग्रब तक प्रकाश में नहीं ग्राया था तथा हिमालयी क्षेत्र के ग्रहिन्दी भाषी वर्ग की संस्कृति के ग्रध्ययन का तो यह प्रथम ही ग्रवसर कहा जा सकता है । इस शोधकार्य में ऐतिहासिक-भौगोलिक सम्प्रदाय की हेलसिंकी परिपाटी का प्रयोग किया गया तथा लोककथाग्रों व लोकगीतों के रूढ़ तन्तुग्रों के ग्रध्ययन के माध्यम में एक नई परम्परा का ग्रारम्भ किया गया । यह शोध प्रबन्ध पुस्तकाकार में 'किन्नर लोक साहित्य' के शीर्षक से सन् १९७६ ई० में प्रकाशित हुग्रा ।

सहायक निदेशक,
भाषा एवम् संस्कृति विभाग,
हिमाचल प्रदेश,
शिमला-१७१००२ ।

बीसवीं शताब्दी का प्रारम्भिक साहित्योत्थान और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

● डॉ० पीयूष गुलेरी

एम०ए० उत्तीर्ण करने के उपरान्त मेरी हिन्दी में शोध करने की इच्छा हुई। मैं जिज्ञासु भाव से पंजाब विश्वविद्यालय के तत्कालीन हिन्दी विभागाध्यक्ष संत-साहित्य के सुप्रसिद्ध अध्येता और हिन्दी वाङ्मय के तलस्पर्शी विद्वान (स्व०) आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी से मिला। मेरे नाम के पीछे 'गुलेरी' देखकर उन्होंने सरस्वती के वरदपुत्र तथा हिन्दी-साहित्य के प्रकाशपुंज अमर साहित्यकार स्वर्गीय पंडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के विषय में पूछा। यह जानकर कि मैं स्वर्गीय गुलेरी जी का निकटस्थ वंशज हूं, उन्होंने मुझे गुलेरी जी पर अनुसंधान करने की प्रेरणा दी। आचार्य द्विवेदी जी ने गुलेरी जी के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धा व्यक्त करते हुए कहा—'उस समय मैं बहुत छोटा था, परन्तु मैं उन्हें भावना से अपना गुरू मानता हूं।' तत्पश्चात् उन्होंने गुलेरी जी के विराट व्यक्तित्व और काशी में उनकी हिन्दी-सेवाओं से सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण संस्मरण सुनाए। उनकी इस बात से तीन साढ़े तीन दशक पुरानी मेरे मन में दबी हुई इच्छा रूपी लता हरी होकर लहलहाने लगी। मैंने उनकी आज्ञा को शिरोधार्य किया। परन्तु दूसरे ही क्षण पूज्यपाद आचार्य जी ने विषय की दुरूहता और सामग्री सम्बन्धी कठिनाइयों की ओर संकेत किया। उनके सुझाव को मन में रखकर मैं घर लौट आया। बात सन् १९६४ ई० की है।

कुछ समय पश्चात् मुझे ज्ञात हुआ कि सामग्री-संकलन अत्यन्त कष्टसाध्य और दुर्गम-कार्य है। तत्पश्चात् पारिवारिक विघ्न-बाधाओं के कारण मैं प्रस्तावित शोध-कार्य की ओर प्रवृत्त न हो सका। कुछ वर्षोंपरांत अब मैंने पुनः कार्य करने का विचार किया तो उस समय आचार्य द्विवेदी पंजाब विश्वविद्यालय से सेवा निवृत्त होकर वाराणसी पधार चुके थे।

इस बार हिन्दी के मूर्धन्य विद्वान और सुप्रसिद्ध इन्टरव्यू-लेखक कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के रीडर गुरूवर डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' की सेवा में उपस्थित हुआ। परिणाम यही निकला कि उन्होंने भी मुझे स्वर्गीय चन्द्रधर शर्मा गुलेरी पर ही अनुसंधान-कार्य

करने का सुझाव दिया। मैंने उनके सम्मुख सामग्री-संकलन सम्बन्धी कठिनाई व्यक्त की तथा अन्य शोध-विषयों की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करने की चेष्टा की। किन्तु वे अपने निर्णय पर अडिग रहे। उनका कथन था—'यदि आप ही स्व० गुलेरी पर कार्य नहीं करेंगे तो और कौन करेगा? हिन्दी के उस अन्य साहित्यकसेवी और मौनसाधक पर अभी तक कार्य करना शेष है। आपको उन्हीं पर कार्य करना है, निराश होने की आवश्यकता नहीं है। पूरी लग्न से खोज करने पर आपको प्रचुर सामग्री प्राप्त होगी।' गुलेरी जी विषयक सामग्री के उपलब्ध होने में उनके इस विश्वास को देखकर मैं चकित रह गया।

जब उन्होंने बड़े आत्म-विश्वास के साथ यह दायित्व मेरे कन्धों पर डाल दिया तो मैंने भी उसको कार्यरूप में परिणत करने का दृढ़ संकल्प कर लिया। इस विषय के सम्बन्ध में हिन्दी के तत्कालीन अध्यक्ष आचार्य विनय मोहन शर्मा की भी यही सम्मति थी।

विषय की मौलिकता तथा महत्व की अनुभूति मुझे तब हुई जब मैं स्थान-स्थान पर जाकर अनेक विद्वानों के सम्पर्क में आया। गुलेरी जी के एकमात्र अनन्य मित्र श्रद्धेय रायकृष्णादास जी से जब मैं 'भारत कला भवन' काशी में मिला तो उन्होंने गुलेरी जी को अपने समय का सबसे बड़ा विद्वान बताते हुए मुझे उन पर कार्य करने के लिए निमित बधाई दी और पूर्ण सहयोग का आश्वासन देकर प्रोत्साहित किया। मेरा आत्म विश्वास और भी प्रवल हुआ। और जब मैं हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान आचार्य विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र की सेवा में उपस्थित हुआ तो उन्होंने इसे एक बड़ा कार्य बताया। उनका कथन था कि स्व० गुलेरी जी की समस्त कृतियों को खोज कर उनका समुचित पाद टिप्पणियों के साथ मात्र सम्पादन ही कम महत्वपूर्ण नही। प्रसिद्ध साहित्यकार श्रीयुत शिव प्रसाद-रुद्र 'काशिकेय' का भी यही विचार था। साहित्य-मर्मज्ञ महामहोपाध्याय कविराज गोपीनाथ जी ने अपनी श्रद्धांजलि देते हुए कहा कि गुलेरी जी जैसे मौन सेवक की समस्त कृतियों का अध्ययन एवं मूल्यांकन होना ही चाहिए। हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध लेखक और इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभागाध्यक्ष डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने इसे अछूता विषय कहा और कृपापूर्वक अपने उपयोगी सुझाव भी दिए। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के प्रधानमन्त्री पं० सुधाकर पाण्डेय, पंडित नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, हिन्दी कवि त्रिलोचन शास्त्री तथा राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर के भूतपूर्व विभागाध्यक्ष डा० सत्येन्द्र आदि अनेक विद्वान जब इस विषय में एकमत मिले तो मुझे अपने कार्य की महत्ता का बोध हुआ। मुझे लगा कि जिस प्रकार साहित्य द्वारा यशार्जन से गुलेरी जी को विरक्ति थी उससे अधिक विरक्ति उनके मूल्यांकन में हिन्दी जगत ने दिखाई है। उनके मित्रों में से बाबू श्याम सुन्दर दास के प्रयत्नों से कभी नागरी प्रचारिणी सभा, बाराणसी की ओर से गुलेरी जी की समस्त कृतियों को 'गुलेरी ग्रन्थ' नाम से प्रकाशित करने की एक योजना बनाई थी परन्तु उसके प्रथम खण्ड का केवल प्रथम भाग ही प्रकाशित हो सका।[1] उनकी पीढ़ी के प्रायः सभी विद्वानों के दिवंगत हो जाने से यह कार्य और भी कठिन हो गया।

---

1. देखिए : सम्पादक कृष्णानन्द, भूमिका।

गुलेरी जी के छोटे पुत्र स्व० शक्तिधर गुलेरी बड़े मेधावी थे और उन्होंने बाबू श्यामसुन्दर दास तथा श्रीयुत गंगानाथ झा के प्रोत्साहन से गुलेरी जी की कहानियों का एक संग्रह प्रकाशित किया था।[1] सम्भवतः वे कुछ और कर पाते परन्तु शीघ्र ही अल्पायु में उनका निधन हो गया। उनके ज्येष्ठ पुत्र स्व० योगेश्वर गुलेरी ने पारिवारिक उत्तरदायित्वों, दैवी विपत्तियों और जीवन के निजी संघर्षों के होते हुए भी उनका साहित्यिक श्राद्ध करने का व्रत लिया था। तदर्थ उन्होंने सामग्री संकलित कर ली थी परन्तु अपने इस दायित्व का निर्वाह करने से पूर्व ही वह भी स्वर्गवासी हो गए। परिणामतः गुलेरी-साहित्य का समग्र मूल्यांकन करना तो दूर रहा उनकी प्रामाणिक जीवनी तक भी नहीं लिखी जा सकी। इसलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास के आधार पर आज तक उन्हें केवल प्रसिद्ध कहानीकार ही समझा जाता रहा है बहुत हुआ तो उनके एक दो निबन्धों की चर्चा करके सन्तोष कर लिया गया है। वास्तव में उन जैसे प्रकाण्ड विद्वान और बहुमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार का तो सभी दृष्टियों से सम्यक मूल्यांकन हो जाना चाहिए था। दुर्भाग्यवश ऐसा नहीं हुआ और प्रभु ने मुझ अकिंचन द्वारा ही उनका साहित्यक-श्राद्ध प्रबन्ध के रूप में विद्वानों के समक्ष उपस्थित है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक साहित्योत्थान में अमर कृती स्व०-गुलेरी जी के व्यक्तित्व और कृतित्व का विस्तार से अध्ययन करने का विनम्र प्रयास किया गया है। यह शोध-प्रबन्ध दो खण्डों में विभाजित है :

१. बीसवीं शताब्दी का पारंभिक साहित्योत्थान।
२. पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का विशेष अध्ययन।

भारतेन्दु युग राष्ट्रीय जागरण एवं साहित्यिक नव-चेतना का युग था। उस युग के निर्माताओं ने छुटपुट ढंग से और परिस्थितिवंश यदा-कदा राजभक्ति का प्रदर्शन भले ही किया हो किन्तु इनके हृदय में भारतीय संस्कृति और देश प्रेम का समुद्र उमड़ता रहता था। अपनी भाषा और अपना साहित्य समुचत होकर समस्त राष्ट्र को अपने स्वाभिमान और स्वत्व की रक्षा की प्रेरणा दे सके, इसके लिए वे सतत जागरूक थे। परिणाम स्वरूप राष्ट्रोत्थान की एक ऐसी अबुझ्झ ज्वाला उनके हृदय में प्रज्जवलित होती रही जो आगे चलकर सक्रिय प्रतिरोध का रूप धारण कर सकी। अंग्रेजों की कूटनीति, परोक्ष रूप से भारतीयों का शोषण, साम्राज्य लिप्सा और सरकारी नौकरियों में स्वार्थपूर्ण भेदभाव–इन सबने मिलकर भारतीयों के मन में न केवल अंग्रेजों के विरुद्ध घृणा के बीज ही बोए बल्कि बारूद में चिन्गारी का भी काम दिया। स्वयं भारतेन्दु और भारतेन्दु मण्डल के साहित्यकारों ने नवजागरण का सन्देश दिया। भारत के प्राचीन गौरव के प्रति देशवासियों को जागृत किया और समाज में व्याप्त रूढ़िवादिता तथा अन्धविश्वासों का खुलकर विरोध किया। तदर्थ उन्होंने निर्भीक होकर प्रहारात्मक शैली अपनाई और नवयुगोचित विचारधारा के प्रचार-प्रसार करने में पूरी शक्ति लगा दी। वस्तुतः भारतेन्दु और उनके सहयोगी राष्ट्रीय नवचेतना का मन्त्र फूंकने वाले वैतालिक है। उन्हीं की ओजमयी वाणी से उस नवयुग

1. देखिए : सम्पादक शक्तिधर गुलेरी, गुलेरी जी की अमर कहानियां, सरस्वती प्रैस, वाराणसी।

के उदय और जागरण का पूर्वाभ्यास होता है, जो बीसवीं शताब्दी के प्रथमचरण में अपने पूर्णविकास को प्राप्त हुआ।

बीसवीं शताब्दी का प्रथम चरण हिन्दी-साहित्य, संस्कृति और कला के उत्थान की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह वह युग है जिसमें समाज की बहुमुखी उन्नति का श्रीगणेश हुआ। संस्कृति के अविच्छिन्न और आधारभूत अंगों—कला और साहित्य का नवोत्थान राष्ट्र के सभी भागों में हुआ। इसके कारण भले ही कुछ भी हों परन्तु यह जागरण भारत भर में सार्वभौम था। अलोच्यकाल, नवोत्थान की भावना से सम्पन्नकाल था। किन्तु इसका प्रथम-प्रभात-काल बंगाल ने देखा। तदनन्तर मद्रास और गुजरात ने भी उस ऊष्मा का अनुभव किया। इसका कारण यह था कि अंग्रेजी शिक्षा और संस्कृति इन्हीं प्रदेशों में अपने अनुकूल वातावरण बनाने में सफल हुई। धीरे-धीरे यह आन्दोलन समस्त देश में व्याप्त हो गया। प्रत्येक प्रांतीय भाषा इस नयी शिक्षा और संस्कृति के सम्पर्क से एक ओर अपनी परम्परागत जातीय भावना के प्रति सजग हुई तो दूसरी ओर इसके द्वारा वैज्ञानिक युग का प्रवंतक भी हुआ। और इस प्रकार एक नए भारत का जन्म हुआ, जिसमें कला, साहित्य और संस्कृति का स्वरूप बदलने लगा। परिणामतः हिन्दी भी इस नए युग का अभिनन्दन करने के लिए आगे आई और उसने अपने साहित्य को नई दिशा में अग्रसर करने के लिए आशातीत उत्साह प्रदर्शित किया। यथार्थतः प्रगति के पथ पर अग्रसर होते हुए हिन्दी को अगर लोकाश्रय के साथ-साथ राजाश्रय भी प्राप्त हुआ होता तो इसकी समृद्धि कल्पनातीत होती। इतना होते हुए भी हम देखते हैं कि इसका साहित्य देश की अन्य समृद्ध भाषाओं के साहित्य से किसी दृष्टि से भी पीछे नहीं है। उसमें साहित्य की सभी विधाओं—कविता, कहानी, उपन्यास, निबन्ध, नाटक, आलोचना, अनुसंधान, गद्यकाव्य और पत्रकारिता आदि का सूत्रपात एवं विकास समुचित रूप में हुआ है। हिन्दी के इस बहुमुखी विकास में पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का योगदान अविस्मरणीय है।

अब तक गुलेरी जी के साहित्यिक-कृतित्व के सम्बन्ध में हिन्दी पाठकों की जानकारी प्रायः शून्य रही है। यही कारण है कि उनका जीवन-वृत जहां नितांत उपेक्षित रह गया वहां दूसरी ओर उनकी साहित्य सम्बन्धी विचारधाराएं भी अत्यन्त एकांगी ढंग से प्रस्तुत की जाती रहीं। यथा 'मारेसि मोहिं कुठाऊं', 'कछुआ धर्म' एवं संगीत आदि कुछेक निबन्धों तथा 'उसने कहा था' शीर्षक एक कहानी का लेकर ही उनके निबन्धकार एवं कहानीकार व्यक्तित्व का स्वरूप निर्धारित किया गया, जबकि उन्होंने अस्सी के लगभग निबन्ध लिखे हैं, यही स्थिति उनके कथा-साहित्य की है, 'उसने कहा था' के अतिरिक्त उन्होंने दो अन्य कहानियां भी लिखी हैं। जहां तक उनके कहानीकार का सम्बन्ध है, चाहे उन्होंने परिमाण में कम लिखा है, किन्तु गुणवत्ता की दृष्टि से वे चिरस्थायी महत्व की रचनाएं हैं। यहां यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि केवल 'उसने कहा था' ही नहीं शेष दो कहानियां भी हिन्दी कहानी के भावी विकास के संकेत चिन्हों से परिपूर्ण हैं। खेद की बात यह है कि उनकी कहानियों के सम्बन्ध में विद्वानों की दृष्टि स्वच्छ नहीं रही है। सबसे बड़ा आक्षेप यह किया गया है कि उनमें भावुकतापूर्ण प्रलाप—भर है, जबकि उनमें नाटकीय-तत्व के साथ भावुकता और यथार्थ का ऐसा मणि-कांचन योग है कि आज भी वे कहानियां अपनी सार्थकता

सिद्ध करने में समर्थ हैं। 'उसने कहा था' कहानी को छात्रोपयोगी बनाने के लिए उसमें से निकाले गए एक गीत और कुछ अन्य पंक्तियों से उसका कलात्मक स्वरूप ही भ्रष्ट कर दिया गया है। यदि उसे मूलरूप में पढ़ा जाए तो वह शाश्वत सहित्य की अमूल्य निधि सिद्ध होगी। यही नहीं हमें तो ऐसा लगता है कि हिन्दी में बाबू जयशंकर प्रसाद और राय कृष्णादास जैसे भावात्मक कहानी लेखकों को भी गुलेरी जी ने अवश्य ही प्रेरणा दी होगी।

परन्तु विद्वानों और अनुसंधित्सुओं का ध्यान प्रायः इस ओर गया ही नहीं। यदि किसी ने उनके शेष रूपों में किसी एक की ओर कभी संकेत किया भी तो मात्र एक-दो पंक्तियों में उदाहरण के लिए पत्रकारी गुलेरी के सम्बन्ध में 'समालोचक' का नामोल्लेख भर करके अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ ली। यही स्थिति उनके अन्य रूपों की है। वास्तव में यह स्थिति हमारे दारिद्रय की सूचक है। होना तो यह चाहिए था कि उनकी श्रेष्ठ कहानी और उत्कृष्ठ निबन्धों से ही जगत यह अनुमान लगा लेता कि यह व्यक्तित्व साहित्य की दृष्टि से अभूतपूर्व है। यदि ऐसा हो जाता तो सचमुच उनके समग्र व्यक्तित्व और कृतित्व पर बहुत पहले ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध हो जाते। यही नहीं हुआ, यह हिन्दी का दुर्भाग्य है।

गुलेरी जी ने निबन्धकार और कहानीकार के अतिरिक्त कवि, आलोचक, पत्राकार, पत्र-लेखक और अनुसन्धाता के रूप में भी हिन्दी जगत का नेतृत्व किया और भाषा शैली के क्षेत्र में भी अपनी प्रयोगात्मक दृष्टि का परिचय दिया। अनुसन्धाता के रूप में तो उनका प्रदेय हमें बार-बार गम्भीर चिन्तन के लिए विवश करता है। जिस उच्चस्तरीय भूमिका का निर्वाह उन्होंने अपने इस रूप में किया वह सचमुच हमारे गौरव का विषय है। उनके अन्य साहित्यिक रूपों में जो प्रौढ़ता है उसका कारण भी उनका यह अगाध पांडित्य ही है। कदाचित् उनके शैली-वैविध्य का मूल आधार भी उनके व्यक्तित्व की यही गरिमा है।

जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं कि वह शोध-प्रबन्ध दो खण्डों में विभाजित है—बीसवीं शताब्दी का प्रारम्भिक का साहित्योत्थान और पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का विशेष अध्ययन। प्रथम खण्ड के दो अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में बीसवीं शताब्दी की साहित्यिक पृष्ठभूमि का परिचय देते हुए तत्कालीन राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और साहित्यिक परिस्थितियों का विश्लेषण करने का प्रयत्न किया गया है। ये परिस्थितियां साहित्य की अगामी नवचेतना और नवोत्थान के लिए प्रेरक रही हैं। द्वितीय अध्याय में बीसवीं शताब्दी की विभिन्न साहित्यिक विधाओं– कविता, नाटक, कथा-साहित्य, निबन्ध, समालोचना आदि का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ ही तत्कालीन हिन्दी पत्रकारिता और हिंन्दी के प्रचार कार्य पर भी दृष्टिपात करने की चेष्टा की गई है। इसी काल-खण्ड में पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी हिन्दी साहित्य के क्षितिज पर उदित हुए।

द्वितीय खण्ड में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के व्यक्तित्व और कृतित्व का विशेष अध्ययन किया किया है। यह खण्ड दस अध्यायों में विभाजित है।

प्रथम अध्याय में गुलेरी जी की प्रामाणिक जीवनी, बहिरंग और अंतरंग साक्ष्यों के आधार पर

प्रस्तुत की गई है। बहिरंग साक्ष्यों में उनके मित्रों, सगे-सम्बन्धियों तथा सम-सामयि साहित्कारों आदि से प्रचुर सामग्री उपलब्ध हुई है। अंतरंग साध्य की दृष्टि से उनका संक्षिप्त आत्मचरित् (अप्रकाशित) तथा यत्र-तत्र बिखरी हुई अन्य कृतियां महत्वपूर्ण सिद्ध हुई हैं। इस अध्याय में किंचित प्रकाश उनके पूज्य पिता जी के चरित्र पर भी डाला गया है।

द्वितीय अध्याय में उनके निबन्धों का विवेचनात्मक आकलन है। अब तक उनके कतिपय निबन्धों को लेकर ही लेखकों ने लेखनी चलाई है। प्रबन्ध-लेखन ने तत्कालीन विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं की पुरानी संचिकाओं में से गुलेरी जी द्वारा लिखित समस्त निबन्धों को खोजकर इनका विवेचन करने का प्रयास किया है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से प्राय: उनके सभी उपलब्ध निबन्धों की कालक्रमानुसार तालिका भी प्रस्तुत कर दी गई है।

तृतीय अध्याय में कहानीकार गुलेरी और उनकी समस्त कहानियों का गवेषणात्मक अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। उनकी 'उसने कहा था' कहानी की पाण्डुलिपि के आधार पर कहानी-संकलनों में प्राप्त उसके अशुद्ध और अधूरे पाठों की सप्रमाण चर्चा की गई है।

यह बात शायद बहुत कम लोगों को ज्ञात हो कि गुलेरी जी ने कविताएं भी लिखी थीं। चतुर्थ अध्याय में कवि गुलेरी जी प्राप्य समस्त संस्कृत-हिन्दी कविताओं का वर्गीकरण और समीक्षात्मक अनुशीलन किया गया है।

पंचम अध्याय में गुलेरी जी की अनुसंधात्मक सामग्री को उपलब्ध करके अनुसंधाता गुलेरी पर उचित प्रकाश डालने की चेष्ठा की गई है। इस अध्याय में उनके पुरातत्विक, भाषायी तथा इतर-विषयक लेखों और निबन्धों का विश्लेषण हुआ है।

हिन्दी-पत्रिकारिता के इतिहास में गुलेरी जी का अप्रतिय योगदान है, इस बात को षष्ठ अध्याय में सप्रमाण उद्घाटित किया गया है। गुलेरी जी द्वारा सम्पादित 'समालोचक' और 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' के आधार पर पत्रकार गुलेरी का मूल्यांकन करने की विनम्र प्रयत्न भी किय गया है।

पत्र-लेखन स्वयं में एक कला है। गुलेरी जी एक सफल पत्र-लेखक थे। सप्तम अध्याय में उनके पत्र-लेखक रूप पर प्रकाश डाला गया है। इसके द्वारा उनके व्यक्तित्व के अनेक अप्रकाशित कोण प्रकाश में आए हैं।

अष्टम अध्याय में गुलेरी जी के समालोचक रूप पर विचार किया गया है। उनके आलोचनात्मक विचारों का यह कदाचित प्रथम अध्ययन है। इसमें 'समालोचक गुलेरी' के विविध पक्षों और उनकी समालोचनात्यक विचारधारा का विवेचनात्मक अध्ययन है। यहां उनके परवर्ती विख्यात समालोचकों पर उसके प्रभाव का भी यथोचित संकेत किया गया है।

साहित्य की सभी विधाओं में समान रूप से गति रखने वाले गुलेरी जी अभिनव शैलीकार भी थे। अत: नवम अध्याय में उनकी विभिन्न गद्यशैलियों का परिचय दिया है। साथ ही हिन्दी गद्यशैलियों के विकास में उनके योगदान की चर्चा भी की गई है।

दशम और अंतिम अध्याय उपसंहार का है। इसमें समग्र विषय को संक्षेप से समाहित करके बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक चरण में उनके योगदान के विषय में प्रकाश डाला गया है।

जहां तक विषय की मौलिकता का प्रश्न है यह शोध-प्रबंध अपने विषय की पहली कृति है। इसमें गुलेरी जी के लुप्त प्राय: सभी निबन्धों की खोज तथा अन्वेषण एक विशिष्ट उपलब्धि है।[1] कहानीकार गुलेरी की सुप्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' की पांडुलिपि की खोज और उसके आधार पर विभिन्न तथ्यों का उद्‌घाटन, उनकी लुप्तप्राय कविताओं को उपलब्ध कर उनके कवि-पक्ष की समीक्षा, अनुसंधाता और पत्रकार गुलेरी का विवेचन-विश्लेषण तथा उनकी पत्र-लेखन कला एवं विविध अभिनव गद्य शैलियों के आकलन को अनुसंधित्सु, मौलिक शोध की संज्ञा देने के लोभ को संवरण नहीं कर पाता। यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता हैं कि पत्र-लेखन गुलेरी, उनकी समालोचनात्मक एवं नाना-रचना-शैलियों का वर्गीकरण तथा आकलन प्रबन्ध-लेखक का मौलिक प्रयास है।

सामग्री-संकलन के लिए प्रबन्ध-लेखक को विभिन्न गांवों एवं नगरों का भ्रमण करना पड़ा। उसने हिमाचल प्रदेश, पंजाब और हरियाणा के विभिन्न स्थानों पर जाकर गुलेरी जी के सम्बन्धियों से संस्मरण और सूचनाएं एकत्र कीं। इसके अतिरिक्त तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं की पुरानी संचिकाओं से सामग्री प्राप्त करने के लिए दिल्ली, इलाहाबाद और बाराणसी आदि नगरों के विभिन्न पुस्तकालयों में जाना पड़ा। जहां-जहां गुलेरी जी रहे थे, उन-उन स्थानों की यात्रा भी की। इस संदर्भ में हरिद्वार, ऋषिकेश, खेतड़ी, जयपुर और अजमेर के नाम उल्लेखनीय हैं। लेखक ने गुलेरी जी के समकालीन मित्रों से भी परिचय प्राप्त करने की चेष्टा की और उसे इस विषय में सफलता भी मिली।

सामग्री-संकलन विषयक इस बात का उल्लेख करना प्रासंगिक प्रतीत होता है कि लेखक को गुलेरी जी के घर में स्वयं उनके द्वारा संगृहीत कुछ बहुमूल्य कागज-पत्र उनकी पुत्रवधु श्रीमती शकुंतला गुलेरी जी के सौजन्य से प्राप्त हुए। इनमें गुलेरी जी के नाम साहित्यकारों और देशी विदेशी महापुरुषों के पत्र, उनकी निजी डायरी, समस्त शैक्षणिक तथा अन्य आवश्यक प्रमाण-पत्र हिन्दु विश्वविद्यालय से सम्बन्धित उसकी निजी फाइल तथा अन्य दस्तावेज़ सम्मिलित हैं। यद्यपि इस संदर्भ में लेखक को श्री विद्याधर गुलेरी (स्व० गुलेरी जी के पौत्र) की ग़लतफहमी और भ्रम के कारण अत्यन्त कटु अनुभव हुए तथापि गुलेरी जी के साहित्यक-श्राद्ध के दृष्टिगत वे सब उपेक्षणीय हैं। उक्त सभी कागज़-पत्रों से उनकी विलक्षण संग्रह-प्रवृति का भी परिचय मिलता है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध द्वारा उनके महान व्यक्तित्व का उद्‌घाटन उनकी सम्पूर्ण रचनाओं के वैज्ञानिक विवेचन और विश्लेषण के आधार पर किया गया है। आशा है कि इस प्रबन्ध के द्वारा हिन्दी-साहित्य के रिक्त अंग की पूर्ति होगी। अन्त में पांच परिशिष्ट दिए गए हैं। परिशिष्ट प्रथम

---

1. यह शोध-प्रबन्ध सन् १९७३ ई० में स्वीकृत हुआ। इसमें दी गई पाद टिप्पणियों, संकेतों और सूचियों को आधार बनाकर अब गुलेरी जी की कृतियों के संकलन आने लगे हैं, यह प्रसन्नता ही का विषय है।

में गुलेरी जी के प्रमाण-पत्र, पत्र तथा उनके नाम लिखे गए अन्य महानुभावों के कतिपय पत्र आदि संगृहीत हैं। परिशिष्ट द्वितीय में उनकी सुप्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' के कुछ पृष्ठों की फ़ोटो-स्टेट कापी भी संलग्न है। परिशिष्ट तृतीय में 'गुलेरी चित्रावली' नाम से उनके दुर्लभ चित्रों को सकलित किया गया है। परिशिष्ट चतुर्थ में कतिपय वे निर्देश संकलित हैं, जो उन्होंने हिन्दु-विश्वविद्यालय वाराणसी को स्थानांतरित होने के अवसर पर अपने उत्तराधिकारी मोतमिद को दिए थे। और परिशिष्ट पंचम में उन सभी महानुभावों एवं साहित्यकों की सूचि है जिनसे प्रबन्ध लेखक प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के सम्बन्ध में समय-समम पर भिला और सहायता एवं अमूल्य सुझाव प्राप्त किए। तदनन्तर संदर्भ ग्रन्थ सूचि समाविष्ट की गई है।

श्रद्धेय डाक्टर ब्रह्मानन्द जी इस कठिन कार्य में मेरे मार्ग दर्शक रहे हैं। अपनी व्यस्तताओं के रहने पर भी उन्होंने सदैव ही सहर्ष मुझे अपना अमूल्य समय दिया, तदर्थ मैं उनका हृदय से ऋणी हूं। डा० कमलेश जी ने इस अपने द्वारा सुझाए हुए विषय पर प्रति लगाव होने के कारण केवल सुझाव ही नहीं दिए प्रत्युत शोध-प्रबन्ध को अन्तिम रूप देने में भी पर्याप्त श्रम किया। उनकी इस कृपा को मैं यावज्जीवन विस्मृत नहीं कर सकता। प्रबन्ध-लेखक अपने प्रकाण्ड पण्डित एवं सुविख्यात साहित्यकार-परीक्षकों, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र तथा डा० सरनाम सिंह शर्मा अरुण का हृदय से आभारी हूं जिन्होंने मेरे इस शोध-प्रबन्ध पर महत्वपूर्ण टिप्पणियां की। उनके इस प्रोत्साहन से मेरा श्रम सार्थक हुआ।

अपने जीवन के सच्चे मार्गदर्शन पूज्यपिता श्री कीर्तिधर शर्मा और माता श्रीमती सत्यादेवी का मुझ पर असीम आभार है जिन्होंने न केवल मुझे गृहस्थ की चिन्ताओं से ही मुक्त किया प्रत्युत आर्थिक कठिनाइयों को दूर करके सामग्री-संकलन के लिए देशाटन करने में योगदान भी दिया। स्व० गुलेरी जी की पुत्रवधु और स्व० योगेश्वर गुलेरी जी की अर्धांगिनी श्रीमती शकुंतला गुलेरी जी की असीम कृपा, आशीर्वाद और सद्भाव के लिए प्रबन्ध-लेखक मात्र आभार प्रकट करके उऋण नहीं हो सकता। मेरे अनुज नन्द किशोर, डा० प्रत्युष गुलेरी, डा० गिरधर 'योगेश्वर', बृजेश अनमोल और आयुष्मती बहिन इन्दु पुंज ने सामग्री संकलन और प्रति लिप्यादि करने में जो सहायता की उसके लिए वे भी मेरे धन्यवाद के अधिकारी हैं।

उनतालीस वर्ष की अवस्था में जितना बड़ा कार्य गुलेरी जी ने किया उतना बिरले ही कर पाते हैं। विशेष रूप से गम्भीर साहित्य-साधना की जो प्रेरणा उन्होंने बाबू श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल और गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जैसे महारथियों को दी वह अपने में स्वयं महत्व रखती है। भारतेन्दु ने जहां रचनात्मक-साहित्य के लेखकों का मण्डल तैयार किया वहां गुलेरी जी ने प्राचीन साहित्य के शोधकों की सेना तैयार की। मात्र रचनात्मक-साहित्य से ही किसी भाषा की महत्ता सिद्ध नहीं होती। उसके लिए आवश्यक होता है कि उसके साहित्य की गौरवमयी परम्परा का भी परिचय प्राप्त हो तथा ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश में उसका मूल्यांकन भी किया जा सके। गुलेरी जी ने यही कार्य किया। इससे जहां हिन्दी साहित्य की विशालता उद्घाटित हुई वहां भारतीय और पाश्चात्य साहित्य के परिप्रेक्ष्य में उसके गाम्भीर्य का भी अनुभव हिन्दी तथा हिन्दीतर भाषाओं के लेखकों तथा साहित्यकारों को हुआ।

हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा, साहित्य, कला, पुरातत्व आदि के क्षेत्र में शोध विषयक जो भी उपलब्धि है, उसका बहुत बड़ा श्रेय गुलेरी जी को है। इस विषय में उनका योगदान इस लिए और भी महत्वपूर्ण है कि वह शोध की पाश्चात्य प्रणाली को आत्मसात करके ही हिन्दी के भावी शोधार्थियों के पथ-प्रदर्शक बने। अतः पौर्वात्य और पाश्चात्य समन्वयशील दृष्टि के भी वह ही उन्नायक थे। किन्तु उनके समस्त साहित्य में प्रमुख स्वर भारतीयता का ही है। अपने पुरातन वाङ्मय का अर्वाचीन वैज्ञानिक दृष्टि से उद्घाटन करना और साहित्य में उच्चादर्शों की प्रतिष्ठा का जोरदार समर्थन करना गुलेरी जी का ऐसा कार्य है जिस के लिए हमें मुक्तकण्ठ से उनका ऋण स्वीकार करना पड़ेगा। हमारा अनुमान है कि ज्यों-ज्यों हमारे शोध-कार्य में घनता आएगी त्यों-त्यों गुलेरी जी का महत्व निरन्तर बढ़ता जाएगा।

निष्कर्षतः यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक साहित्योत्थान में पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का योगदान सभी दृष्टियों से चिरस्मरणीय रहेगा।

स्नातकोत्तर हिन्दी-विभाग,
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
धर्मशाला (हिमाचल प्रदेश)

पहाड़ी संस्कृति और सभ्यता–
तब और अब

● आर०डी० महन्त

भारत की सभ्यता और संस्कृति वास्तव में यहां के लोगों का आत्मविश्वास, विद्वता, कौशल, शिल्प-विधा, धर्म अनुरूपता, रहन-सहन, नेक आचरण, चित की स्वतन्त्रता, नीति, रिवाज, शास्त्र-पद्धति और आचार का एक मिश्रण है। हम जो कुछ उत्तराधिकार द्वारा अपने पूर्वजों से ग्रहण करते हैं, वही हमारी सभ्यता और संस्कृति कहलाती है।

यह बात मान्य है कि किसी समाज, जाति या धर्म पर ऊपर लिखे गुणों और संस्कारों का एक गहरा असर पड़ता चला जाता है। इन गुणों और संस्कारों के फलस्वरूप वह समाज अपना एक अलग स्वरूप बनाता चला जाता है।

भारत की सभ्यता और संस्कृति के सम्बन्ध में हमारे यहां कोई अलग रिकार्ड, पुस्तकों के रूप में नहीं है। हमारे वेद, शास्त्र, पुराण, रामायण, गीता, भागवत इत्यादि पुस्तकें ही आज तक हमारी संस्कृति और सभ्यता का आधार बनी आ रही हैं।

हमारे ग्रामीण जीवन, जिसमें यह सारा देश बंटा हुआ है, में जब हम दृष्टि डालते हैं तो प्रतीत होता है कि हम सब में हर एक व्यक्ति व्यक्तिगत रूप में, खेती बाड़ी, मकान बनाना, जंगल साफ करना, ऊन कातना, बुनना, देश की रक्षा के लिए फौज में भर्ती होना–इन सब कामों को निपुणता से करता है। केवल मर्द ही नहीं बल्कि हमारी स्त्री जाति-खाना बनाना, कातना, बुनना, खेती बाड़ी करना, गाय बैल पालना, दूध-घी पैदा करना, घर की देखभाल करना इन सब कामों में पूरा-पूरा ध्यान रखती है और मर्दों के साथ-साथ हर कार्य में बराबर का हाथ बटाती हैं। हमारे प्रदेश की यह विशेष बात है।

विज्ञान के इस बढ़ते हुए युग में अब ग्रामीण जीवन में वह एकाग्रता और रूचि नहीं रही है। हर ग्रामवासी के जीवन में एक भारी परिवर्तन आता जा रहा है। ग्रामों का तेजी से मशीनिकरण होता जा रहा है। हमारी सभ्यता और संस्कृति के कुछ अंश इस मशीनिकरण के कारण नष्ट से होते जा रहे हैं। हमें उनको बचाना ही होगा। हिमाचल पहाड़ी प्रदेश है। राजनैतिक स्वतन्त्रता मात्र से ही हमारा काम समाप्त नहीं होता। हमें अपनी विशेष संस्कृति और सभ्यता को बनाए रखना ही है।

बदलाव और तबदीलियां तथा अन्य परिवर्तन प्रकृति का अटूट नियम है। हमारे प्रदेश की कई घुमन्तु जातियों ने भी अब अपने आप को बदल लिया है और अपना एक अलग संगठित

समाज बना लिया है। परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि घुमन्तु जाति की विशेष सभ्यता-संस्कृति और मान्यताओं को हम सुरक्षित न रखें। हमारे प्रदेश में छूआ-छूत की न तो कोई समस्या थी और अगर देखा जाए तो न ही अब है। हरिजन लोग हमारी सामाजिक मान्यताओं में बराबर के भागीदार हैं। समाज में उनका स्थान भी विशेष है। हिमाचली जनजीवन की यह विशेषता है कि यहां हरिजनों को समाज और जनजीवन का प्रमुख अंग माना जाता है। उनके सम्मिलित हुए बिना बहुत से सामाजिक एवं धार्मिक कार्य सम्पन्न ही नहीं हो सकते। भेद भाव की बात कुछ स्वार्थी और शरारत पसन्द लोग ही पैदा करते हैं।

यह देखकर कभी-कभी मन खिन्न हो जाता है कि पश्चिमी सभ्यता का अन्धा अनुकरण कुछ लोग करने लगे हैं। पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति की वह सभी अच्छी बातें जो कि आज के बदलते परिवेश में अगर अपना ली जाएं तो कोई बुरी बात नहीं है। हां इसका अन्धा-धुन्ध अनुकरण एक बुरी बात है।

हमारा ग्रामीण भी अब शहरी जीवन की बनावटी चकाचौंध की ओर अधिक आकर्षित होने लगा है। यह कोई अच्छी बात नहीं है। जिस थोथी चकाचौंध ने हमारे ग्रामीणों को आकर्षित करना शुरु कर दिया है उसके बुरे प्रभाव हमारी ग्रामीण अर्थ व्यवस्था पर पड़े बिना नहीं रह सकते।

जैसा कि पहले भी विचार व्यक्त कर चुका हूं कि हर अच्छा परिवर्तन तो समाज में आना ही चाहिए–आता भी है, परन्तु परिवर्तन केवल मात्र फैशन के रूप में आए यह बात हमारे लाभ की नहीं रहेगी। हमारे ग्रामों में आज अगर ट्रैक्टर चलने लगे हैं, बिजली का प्रयोग होने लगा है, सुख सुविधा के अन्य साधन अपनाए जा रहे हैं तो कोई बुरी बात नहीं परन्तु यदि हम अपना खान-पान, पहरावा, बातचीत का ढंग, उठने बैठने के तरीकों को भौंड़े तरीके से बदले तो यह अच्छी बात नहीं होगी। सभ्यता और संस्कृति की वे सभी बातें जो हमें अपने पूर्वजों से विरासत में मिली हैं उन्हें एकदम नकारा कहकर उनसे नाता तोड़ना हमारे अपने लिए भी हितकर नहीं होगा। ग्राम और शहर एक दूसरे के पूरक बन कर रहें तो कहीं अधिक लाभ की बात है बजाए इसके कि इनमें बिना मतलब का टकराव हो। हिमाचल का गठन भले ही छोटी बड़ी तीस रियासतों को विलय करके किया गया था। परन्तु १९४८ से १९६६ से आगे इसका पुनर्गठन फिर से हुआ। इस गठन और पुनर्गठन की आवश्यकता भी प्रदेश की भौगोलिक स्थितियों को देखकर ही अनुभव की गई। क्या यही बात हमें सोचने पर मजबूर नहीं करती कि हम हिमाचल के लोगों की अपनी एक सभ्यता है? अपनी भौगोलिक, राजनैतिक और सामाजिक आवश्यकताएं हैं।

यहां के लोक-गीत, लोक-धुनें, लोक-वाद्य, गाथाएं, हारे, पुआड़ें, हेड़े, झेंड़े, संस्कार गीत अपनी मिसाल आप हैं। यहां के पहरावे, रहन सहन के ढंग, धार्मिक मान्यताएं, अपनी ही प्रकार की हैं। लोकगीतों को, लोकगाथाओं को, अभिनय और प्रस्तुतिकरण के ढंग को अगर हम आधुनिक उपकरणों से सुरक्षित रखते हैं तो कोई बुरी बात नहीं, मिसाल के तौर पर यदि हम अपने गीत-गाथाओं को टेप में रिकार्ड कर लेते है या अपने रीति-रिवाजों, गायन वादन को फिल्म बना

कर सुरक्षित रखते हैं तो हम सभ्यता और संस्कृति के उस भाग की सुरक्षा करते हैं जो लुप्त होने की ओर जा रहा है।

पिछली तीन शताब्दियों में प्रदेश की खेती-बाड़ी के तरीकों में भी परिवर्तन आया है। खेती-बाड़ी और पशुपालन के नये तौर के-तरीके प्रचलित हो गए हैं उन्हें अपनाकर हम अपना विकास तो कर ही रहे हैं साथ में समृद्धि की ओर भी अग्रसर हो रहे हैं। सिलाई, बुनाई, कताई आदी के कामों में अब अधुनिक उपकरणों या छोटी-बड़ी मशीनों की सहायता ली जाने लगी है। यह परिवर्तन बड़ा सुखद है। इस परिवर्तन से हम समृद्धि की ओर ही बढ़ते हैं।

देश के कुछ भागों में जहां भाषा के नाम पर दगे फसाद अकसर हो जाते हैं वहां हिमाचल में ऐसी कोई बात नहीं है हलांकि यहां भाषाओं की विविधता भी है, रहन-सहन की विविधता भी और खानपान की भी विविधताएं हैं। सुसंस्कृत व्यक्तियों का समाज जो जीवन पद्धति अपनाता है उसे ही संस्कृति कहा जाता है। उपसंहार के रूप इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि हमें जन जीवन में होने वाले परिवर्तनों को तब तक सहर्ष स्वीकार करना चाहिए जब तक कि वह हमारे मूल ढांचे को तहस नहस न करें। परिवर्तन के नाम पर अन्धा अनुकरण घातक सिद्ध होगा। हिमाचल की अपनी वशिष्ट सभ्यता और संस्कृति आदिकाल से रही है। उसे परिवर्तन के साथ बनाए रखना ही होगा।

अखाड़ा बाजार,
कुल्लू

★☮★

पहाड़ी संस्कृति तथा कला के स्रोत : पनघट शिलाएं

● रमेश जसरोटिया

प्रत्येक क्षेत्र की कला एवं संस्कृति में अपनी विशेषता होती है जो उस क्षेत्र विशेष की अपनी अलग पहचान बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। हिमाचल के चश्मों के मुहानों पर लगी शिलाएं इसकी सांस्कृतिक विशेषताओं में से एक है। इन शिलाओं को हिमाचली संस्कृति व कला का उत्कृष्ट नमूना कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। वैसे तो इस प्रकार की शिलाएं मण्डी, कुल्लू, लाहौल–स्पिति के अतिरिक्त प्रदेश के अन्य भाग में भी छिटपुट रूप में मिलती हैं पर चम्बा जिले में ये न केवल प्रचुर मात्रा में मिलती हैं बल्कि इनकी अपनी अलग कलात्मक विशिष्टता भी है। मोटिफ (मूलभाव) तथा विभिन्न प्रकार के ज्यामितीय आकारों से समृद्ध ये शिलाएं अपनी श्रेष्ठता की छाप दर्शकों पर छोड़ जाती हैं। कुछ शिलाओं में प्राचीन आलेख उकरित हैं। इनसे चम्बा के इतिहास की जटिल गुत्थियों को सुलझाने में काफी मदद मिलती है। इस क्षेत्र में पनघट शिलाओं का भारी मात्रा में मिलना आश्चर्यजनक लगता है। परन्तु कुछ तथ्यों के आधार पर इसके कारण खोजे जा सकते हैं।

यों तो जल का भारतीय परम्परा और संस्कृति में अपना महत्वपूर्ण स्थान है। तैतिरीयोपनिषद् में लिखा है 'अद्‌भ्यः पृथिवी' अर्थात जल से ही पृथ्वी की उत्पति हुई है। इस क्षेत्र के लोगों की कुछ परम्परागत मानताएं जल से जुड़ी हुई हैं। चम्बानिवासियों जल उपलब्ध करवाने के लिए रानी सूही ने अपना बलिदान दिया था। प्रसिद्ध मिंजर मेले में बान्धी जाने वाली मिंजर भी अन्ततः जल में ही विसर्जित की जाती है।

चम्बा क्षेत्र में मिलने वाली इन पनघट शिलाओं का सामंतयुग में काफी विकास हुआ। राणाओं और ठाकुरों ने अपने निकट सम्बन्धियों की पुण्य समृति तथा परलोक में सुख प्राप्ति के लिए इन शिलाओं का निर्माण करवाया था।

पहाड़ों में पनघटों का सामाजिक महत्व बहुत रहा है। जहां जल होगा वहां लताएं और वृक्षादि भी होंगे। इन स्थानों को अधिक सुन्दर बनाने के लिए इन नक्काशीदार शिलाओं का उपयोग किया जाता रहा होगा। पनघटों पर आसपास के गांवों के आदमी इकट्ठे होते, थोड़ी देर आराम करते और आपस में बातचीत करते थे। अतः यहां सुन्दर और कलात्मक शिलाओं का निर्माण स्वाभाविक ही प्रतीत होता है।

चम्बा क्षेत्र में मिलने वाली इन पनघट शिलाओं की दो श्रेणियां हैं। एक रावीघाटी (चम्बा से भरमौर तक) में मिलने वाली और दूसरी चुराह क्षेत्र में मिलने वाली पनघट शिलाएं।

रावी घाटी में मिलने वाली शिलाएं तकनीक की दृष्टि से चुराह क्षेत्र की शिलाओं से भिन्न हैं। इन शिलाओं की कटाई गोलदार हुई है और इनका अधिकार सम्बन्ध मूर्तिकला से है। चुराह क्षेत्र की शिलाओं की कटाई गोलदार न होकर अक्सर चपटी है तथा ये पेंटिंग ड्राईंग से मिलती जुलती हैं।

रावी घाटी की अधिकतर शिलाएं आलेख रहित हैं। इन शिलाओं की विशेषता यह है कि इन पर देवताओं की आकृतियों का पंक्ति दर पंक्ति उत्कीर्ण हुआ है। शेषनाग पर शयन करते विष्णु को विशेष रूप से उकेरा गया है। इन शिलाओं पर फूलदार और ज्यामितिय सजावट बहुत कम है।

चुराह क्षेत्र की पनघट शिलाएं अपनी वास्तुकता में रावी घाटी की पनघट शिलाओं की अपेक्षा काफी समृद्ध, आकर्षक और आकार में प्रायः बड़ी भी हैं। इनमें कला की दृष्टि से सुन्दर एवं समृद्ध शिलाओं का निर्माणकाल दसवीं से बारहवीं शताब्दी के मध्य है। इन शिलाओं में इतने अधिक डिजाइन हैं कि ईंच भर जगह भी खाली नहीं मिलती। उत्कीर्णता की समृद्ध झलक इन शिलाओं में देखी जा सकती है। इन पर जल के देवता वरूण को अत्यधिक उकेरा गया है। वरूण की मान्यता वैदिककाल से लेकर ८०० ईसा पूर्व तक रही है। यह शिलाएं कोणात्मक परिधान, शार्प लाईनों और फ्रन्टल पोजिशन के लिए प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त जल से सम्बन्ध रखने वाले मोटिफों को भी उकेरा गया है जैसे कमल के फूल, लताएं, हंस, हाथी, एक दूसरे से लिपटे हुए सांप, वरुण तथा विष्णु आदि। यह जानकर हैरानी होती है कि इसी तरह के मोटिफ पूर्व-बौद्धकला में भी मिलते हैं। इन मोटिफों की आपसी समानता के बारे में जानने के लिए काफी शोध की आवश्यकता है। कुछ अन्य मोटिफों की नक्काशी भी हुई है जैसे घुड़सवार, तलवारें, धनुषधारी योद्धा। सम्भवतः में सामन्तों या राणाओं और उनके सैनिकों का उत्कीर्ण हो। देवी-देवता, पशु पक्षी, फूल तथा ज्यामितीय डिजाइन वगैरह। इस तरह की पनघट शिलाएं न जाने कितने ही रहस्य अपने सीने में छिपाए हुए हैं।

कई पनघटशिलाओं पर चोली घाघरा पहने औरतों का अंकन हुआ है। ऐसा ही एक पनघटशिला भूरिसिंह संग्रहालय में सुरक्षित है। यह शिला लगभग १३ वीं शताब्दी के आरम्भ की है। ऐसा अनुमान है कि यह चोली घाघरा का प्रतिनिधित्व करने वाली हिमाचल की सबसे प्राचीन शिला है। इससे पूर्व चोली घाघरा का उत्कीर्ण हिमालय के किसी भी क्षेत्र में नहीं मिलता। शिला से इस बात का पता चलता है कि उस समय चुराह क्षेत्र में चोली घाघरे का व्यापक प्रचलन था। शिलाओं में उकरित कई प्रकार के ज्यामितीय डिजाईन हैं जो उस समय की कढाई और कसीदाकारी की ओर संकेत करते हैं।

इसी संग्रहालय में रखी एक अन्य पनघट शिला में शेर और हाथी की लड़ाई का सजीव उत्कीर्ण हुआ है। इस प्रकार का उकेरण भारत मध्ययुगीन कला में विशेष रूप से होता रहा है। एलोरा की गुफाओं के ऊपरी भाग में भी इस प्रकार के दृष्यों का उत्कीर्ण मिलत है। ऐसी लड़ाई का अर्थ 'शारीरिक रूप से समान बलवानों के मध्य युद्ध' होता है। शेर और हाथी, दो अलग बलशाली जातियों के प्रतीक हैं। इस प्रकार के चित्रण को दो बलवान नस्लों के मध्य युद्ध

के रूप में भी लिया जा सकता है। मुगलकाल तक तो हाथी को विशेष महत्व प्राप्त था। हाथी और शेर के सम्बन्धों का तो कई प्राचीन पुस्तकों में भी उल्लेख मिलता है।

इसी पनघट शिला के निचले हिस्से में मोतियों की माला लिए हंस पंक्तिबद्ध रूप में हैं। शिला के ऊपरी भाग में हंसों का युगल मुंह से मुंह जोड़े कमल पकड़े हुए हैं। हंसों का भारतीय संस्कृति व धर्म में विशेष स्थान है। सौन्दर्य लहरी में हंसों की शुद्धता, पवित्रता, अध्यात्मिकता, विद्वता का प्रतीक तथा वेदों का ज्ञाता माना गया है। भारतीय भवनों में भी हंसों का खूब उत्कीर्ण हुआ है। कहीं उड़ते हुए, कहीं कतारों में और कहीं एक दूसरे की ओर मुंह किए हंसों का अंकन होता रहा है।

इन सभी मोटिफों का पनघट शिलाओं में उत्कीर्ण इस बात की पुष्टि करता है कि पर्वतीय सभ्यता–संस्कृति, ज्ञान और कला की दृष्टि से कितनी समृद्ध है। अभी भी कला के कितने ही उत्कृष्ट नमूने कला पारखियों और इतिहासवेताओं की बाट जोहते इनहीं पहाड़ों में छिपे पड़े हैं।

मुहल्ला सुराड़ा,
चम्बा १७६३१० (हि० प्र०)

1. निदेशक, शिक्षा विभाग, हि०प्र० द्वारा पत्राङ्क ई डी ऐन-एच (8)-6(3)1/75, 24 फरवरी, 1975 के अनुसार प्रदेश के समस्त कालेजों, पाठशालाओं व जिला पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत।

2. प्रदेश की समस्त पंचायतों के लिए निदेशक, पंचायती राज विभाग, हिमाचल प्रदेश सरकार द्वारा स्वीकृत।

हिमाचल कला-संस्कृति-भाषा अकादमी, पीच ब्लाज़म काटेज शिमला-2 द्वारा प्रसारित तथा **नवीन प्रिंटिंग प्रेस'**, **जिला बिलासपुर (हिमाचल प्रदेश)** द्वारा मुद्रित।